Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 11 अंक 2 जुलाई 1997

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण
रमेशचन्द्र शाह अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान. जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 11 अंक 2 जुलाई, 1997

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण

रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संपादक-सहयोगी

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. दयाकृष्ण, बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर - 302015
3. रमेशचन्द्र शाह, एफ 3/2, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल - 462002
4. अशोक वाजपेयी, सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली - 110011

संपादक

1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर - 302015
2. मुकुन्द लाठ, ए37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर 302006

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 30/-
संस्थाएं — रु. 50/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 300/-
संस्थाएं — रु. 3000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसन मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर में टंकित तथा प्रिन्टवैल पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर में मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषय-सूची

1. सृजन, परिवेश और परम्परा	गोविन्दचन्द्र पांडे	87
2. गाँधीजी की धर्म-प्रतिभा	मुकुन्द लाठ	105
विचारविमर्श		
1. साहित्य और संस्कृति	यशदेव शल्य	121
2. 'भारतीय भाषा-चिंतन, भाष्य और आलोचना' एक अन्वीक्षा	नारायण शास्त्री द्राविड़	130
3. उत्तर	यशदेव शल्य	136
4. शांकर वेदांत का भारतीय समाज पर प्रभाव	बी. कामेश्वर राव	139
उन्मीलन-गोष्ठी		
विषय—दयाकृष्ण की पुस्तक : प्रोलेगोमेना टू एनी फ्यूचर हिस्टोरियोग्राफी आफ कल्चर्स एंड सिविलाइज़ेशंस	विषयप्रवर्त्तक	146
पुस्तक-समीक्षा		
1. पं. रामावतार शर्मा—परमार्थ दर्शनम्	नारायण शास्त्री द्राविड़	152
2. यशदेव शल्य, भगवती—प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएं	देवेन्द्रनाथ तिवारी	155

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सृजन, परिवेश और परम्परा *

गोविन्दचंद्र पांडे

पश्यन्नेव सृजत्यर्थान् कविरेकः सनातनः।
आत्मानं विमृशन्नीशः प्रेरयंश्च धियोऽपि नः ॥1 ॥
त्रिगुणां तन्वते सृष्टिं कवये वेधसे नमः।
सदसदात्मिकां काले देशेऽब्धिबुद्बुदोपमाम् ॥2 ॥
भ्रमतो यत्समुत्पन्नं भ्रममापादयत्यपि।
चित्रोपमाय चित्ताय तस्मै विश्वसृजे नमः ॥3 ॥
त्रासात्स्वनिर्मिताद् यद्वत् स्वप्नो भङ्गमवाप्नुयात्।
मोहात्मापि भ्रमस्तद्वज्ज्वालेवात्मविघातकः ॥4 ॥
ऐन्द्रजालिकमुख्याय कवये मनसे नमः।
वाचैव सृजते विश्वं विद्याविद्योभयात्मने ॥5 ॥

सृजन शब्द का मुख्य प्रयोग ईश्वरीय सृष्टि के लिए होता रहा है। "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।" "देवस्य पश्य काव्यं महित्वा"। "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति"। ईश्वर स्रष्टा या कवि है और उसकी सृष्टि सनातन है। इस सनातन सृष्टि के विषयों को तत्त्वात्मक कहा जा सकता है, ये मूल चैतन्य के इच्छात्मक आत्मपरामर्श में अपरोक्षतया प्रतिभात होते हैं, जैसे स्वप्न स्वप्न-द्रष्टा के समक्ष। इस अवस्था में दृष्टि और सृष्टि का भेद नहीं रहता। ईश्वर के आत्मपरामर्श में समस्त तत्त्वों का अन्तर्निहित ज्ञान आविर्भूत होता है। यही पश्यन्ती वाक् का विश्व भी है।

सृष्टि का एक दूसरा अर्थ ब्रह्मा या प्रजापति के द्वारा की गयी कालिक और प्राकृतिक सृष्टि है जो सदसदात्मक होती है। इसमें काल शक्ति से प्रत्येक वस्तु निरन्तर असत् से सत् और सत् से असत् में उपनीत होती है। इन प्राकृतिक वस्तुओं में सनातन तत्त्व या धर्म अधूरे रूप में ही प्रतिबिम्बित होते हैं। किन्तु ये अन्तर्निहित प्रतिबिम्ब न्यूनाधिक रूप में ज्ञानी अथवा विज्ञानी को ही विदित होते हैं।

मानवीय सृजन को अनुकृति की अनुकृति कहा गया है, क्योंकि वह तत्त्वानुकारी अर्थों की प्रतिकृति होता है। पर उसका वास्तविक रूप अनुव्यवसाय बताया गया है जिसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है : सृजन उन तत्त्वों अथवा अर्थों का अनुचिन्तन,

---

* इलाहाबाद संग्रहालय से अनियत पत्र के रूप में प्रकाश्य।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अभिव्यंजन अथवा अनुसरण है जो सर्जना मात्र में प्रतिमान के रूप से उपस्थित रहते हैं। आविष्कारक प्राकृतिक अर्थों में प्रतिबिम्बित तत्त्वों का अनुसरण करते हुए भौतिक निर्माण करते हैं, सामाजिक स्तर पर संस्थापक और प्रवर्तक तात्त्विक विधियों को संस्थागत रूप देने का दावा करते हैं, शास्त्रकार सनातन धर्मों का मनन करते हैं और प्रत्ययमयी या विकल्पमयी भाषा में उन्हें व्यक्त करते हैं। कवि और शिल्पी संकेतों और प्रतीकों में अनुभूत सत्य को व्यक्त करते हैं।

अपूर्व निर्माण के रूप में मानवीय संरचना कई स्तरों में व्याप्त होती है। भौतिक स्तर पर वह प्राकृत उपादानों को उपयोगिता की दृष्टि से रूपान्तरित करती है, सामाजिक स्तर पर नवीन विधियों और संस्थाओं की स्थापना करती है, शिल्प और कला के स्तर पर प्राकृतिक उपादानों को अन्तर्दृष्ट की 'अभियक्ति के लिए बदलती है, वाक् के स्तर पर वाङ्मय की रचना करती है। इन सभी स्तरों में सर्जना का तत्त्वानुसंधान-व्यापार निःसन्देह रहता है। साहित्य और शिल्प में वस्तुतः मनोमय स्तर पर प्रतिभात मूल्यान्वयी रूप या अर्थ ही बाहरी उपादानों में व्यक्त होता है। इसलिए सर्जना का मुख्य व्यापार मनोमय ही है। बाहरी कृति अंशतः मनोमय कृति की अनुकृति रहती है। यह अनुकृति या अनुवाद इसलिए सम्भव होता है क्योंकि शब्द, नाद और रूप तीनों केवल ऐन्द्रिय स्तर पर ही गोचर नहीं होते बल्कि उनका सूक्ष्म रूप मन के द्वारा ही साक्षात्कारित होता है। एडीसन जैसे आविष्कारक, हम्मूरावी, हजरत मूसा, मनु अथवा नेपोलियन जैसे विधि-व्यवस्थापक, प्रॉक्सीतेलीस जैसे मूर्त्तिकार, तानसेन जैसे संगीतकार, नाना शास्त्रकार और साहित्यकार सभी के कार्यों में सर्जना के व्यापार का जो विविध उत्कर्ष प्रत्यक्ष होता है उसमें अन्तर्दृष्टि और बाहरी क्रिया का समवाय देखा जा सकता है।

सामान्यतया सृजन से न सिर्फ उसका गौण अर्थ बल्कि वह भी एक संकुचित रूप में लिया जाता है। साहित्यिक अथवा कलात्मक रचना को ही प्रायः सर्जना का विषय समझा जाता है। कला के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि वास्तुकला में, जिसे कला का प्रधान प्रकार कहा जा सकता है, विज्ञान और उपयोगिता के पक्ष कभी भी नगण्य नहीं रहते हैं। ऐसे ही संगीत न केवल सामाजिक उत्सव-अनुष्ठान आदि के संदर्भ में ही प्रायः विकसित हुआ है, उसकी एक निश्चित वैज्ञानिक पृष्ठभूमि भी रहती है। साहित्य में शक्ति और निपुणता और अभ्यास के अन्तर्गत शास्त्र और लोक का ज्ञान और सामाजिक योगदान आवश्यक है, यह अविदित नहीं है। कलाकृति के एक विस्तृत क्षेत्र में उपकरण और अलंकरण की सहयोगिता मिलती है। इससे यह अनुमेय है कि कलात्मक सर्जना केवल कर्तृ स्वातन्त्र्य का विषय न होकर वस्तु-विज्ञान और वस्तु-विनियोग की आवश्यकताओं के परतन्त्र भी है।

साहित्य के क्षेत्र में एक प्राचीन परम्परा है जो काव्य और शास्त्र में आत्यन्तिक भेद स्थापित करती है। काव्य कवि के स्वातन्त्र्य का क्षेत्र है और उसमें नियतिकृत नियमों का अभाव कल्पित किया गया है। शास्त्र ज्ञानात्मक है और प्रज्ञा का परिणाम है। शास्त्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रधानतया दृष्टि से परिगृहीत युक्ति-विन्यास के रूप में रहते हैं जबकि काव्य अनुभूति को प्रकाशित करने वाली प्रतीक-कल्पना है। एक सीमा तक इसी प्रकार का मत आधुनिक काल में भी 'एस्थेटिक्स' के विकास के साथ पनपा है। अनेक दार्शनिकों का यह विचार है कि काव्य ज्ञान-विज्ञान और वस्तु-जगत् से स्वरूपतः असंबद्ध है। उसके वाक्य वस्तुप्रदर्शक या तथ्यनिरूपक नहीं हैं। इस विभाजन का प्राचीन परम्परा में दुष्परिणाम यह था कि वेद, पुराण आदि साहित्य अपनी शास्त्रीयता के कारण काव्य से दूर कर दिये गये। आधुनिक युग में इसका दुष्परिणाम यह है कि काव्य आत्मपरक एवं अलंकरणात्मक बनकर तत्त्वदृष्टि से वंचित हो गया है।

यह सही है कि ज्ञान और क्रिया में एक निश्चित अन्तर है। ज्ञान वस्तुतंत्र होता है, क्रिया पुरुषतंत्र होती है, किन्तु यह प्रबल युक्तियों से प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञान में कल्पनात्मक रचना का तत्त्व अनिवार्य रूप से रहता है। इस रचना का अपना एक निराला सौंदर्य भी है। बर्ट्रेंड रसेल का कहना है कि गणित का सौंदर्य संगीत की तरह आडम्बर और आटोप से अपने आपको प्रकाशित नहीं करता किन्तु उसमें संगमरमरी शिल्प की शीतल मोहकता मिलती है। दूसरी ओर साहित्यिक रचना से यह अपेक्षा की जाती है कि उसमें साहित्यकार की स्वतन्त्र क्रिया नितान्त आत्मपरक और निरंकुश न हो। उत्तम रचना स्वतंत्र होते हुए भी यथातथ्य का अनुसरण करती है। रचना का यथातथ्य अथवा यथार्थता ही परम्परागत अनुकरणतावाद का वास्तविक तात्पर्य है। निष्कर्ष यह है कि तथ्य-प्रधान शास्त्र और कल्पना-प्रधान काव्य में निश्चित भेद होते हुए भी उनमें सर्जनात्मक प्रतिभा अथवा रचना की व्याप्ति देखी जा सकती है। ज्ञान और कल्पना को सर्वथा अलग कर देने से ज्ञान अव्यवसायात्मक हो जाता है और कल्पना निरंकुश हो जाती है। रोमैन्टिक आन्दोलन की विशेषता थी कि उसने साहित्यिक कल्पना अथवा प्रतिभा में तत्त्वदर्शिता का पक्ष उजागर किया।

साहित्य-रचना के संदर्भ में प्रतिभा एवं कल्पना के व्यापार की महिमा निर्विवाद है। सामान्यतया कल्पना को मन की उड़ान माना जाता है जो वस्तु-निरपेक्ष और स्वतंत्र होने के साथ-साथ वैयक्तिक और आत्मपरक होती है। उसके विषय में एक धारणा यह रही है कि वह सिर्फ स्मृतियों के आधार पर अनुभूत विषयों का अनुकरण अथवा उनको अन्यथा प्रस्तुत करने की शक्ति है। इस दृष्टि से संस्कारजन्य आभासों का अथवा स्मृतियों का संयोजन-वियोजन कल्पना कहलाता है। दूसरी ओर ऐन्द्रिय प्रतिभास के साथ शब्द-योजना भी कल्पना कहलाती है। संक्षेप में कल्पना अनुपस्थित अर्थों की प्रतीति कराने वाली मन की स्वाधीन शक्ति है। कल्पना के उदाहरणों में मानसिक चित्र और बिम्ब, भ्रम और स्वप्न, शाब्दिक विकल्प और आन्तरिक साक्षात्कार इन सभी को रखा जा सकता है। यदि भ्रम मुख्यतया कल्पना है तो ज्ञान में भी कल्पना का तत्त्व अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण होता है। उनमें भेद यह है कि ज्ञान में कल्पना नियत होती है। इस प्रकार कल्पना को अनेक रूपों और स्तरों में व्याप्त देखा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी स्वतंत्रता उसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनियत बनाकर भ्रामक बना देती है। दूसरी ओर उसकी स्मृति-सन्निकट अनुकरणात्मकता उसकी अपूर्वता को नष्ट करती है। इस प्रकार स्वतंत्र हो या परतन्त्र, भ्रामक हो या सांव्यावहारिक प्रमाण का अंग, कल्पना सत्य और नवीन किस प्रकार हो सकती है, यह प्रश्न बना रहता है। वस्तुतः 'कल्पना' शब्द संश्लिष्ट व्यापारों और आयामों का वाचक बन जाता है। रचना की अपूर्वता और कविगत वैशिष्ट्य को लक्षित कर कर्त्तृ-स्वातंत्र्य का अनुमान होता है। किन्तु वस्तुतः व्यवहार-मुक्त संदर्भ में ही शब्दों और प्रतीकों के अनियत प्रयोग की संभावनाएँ उद्भूत होती हैं जिनसे रचना की स्वभाव-सहज शैली अपूर्वता का उन्मेष अनायास करती है। व्यावहारिक संदर्भ से मुक्त होने पर भाषा तथाकथित प्रमेयों और प्रसिद्ध संकेतों से नियन्त्रित अभिधान-सरणि की संकीर्णता से भी मुक्त हो जाती है। उन्मुक्त भाषा-प्रयोग के अनन्त सागर से अपनी स्वाभाविक सहजता में जिन तरंगों को रचनाकार सुनता-सुनाता है उन्हीं से उसकी रचना विशेषता प्राप्त करती है। फलतः कल्पना की स्वतंत्रता और रचना की अपूर्वता कवि-व्यापार की सहजता और वैयक्तिक विशिष्टता के ही पर्याय सिद्ध होते हैं। शब्द-प्रयोग की वक्रता और पदों की विशिष्ट रचना में ही कल्पना की अपूर्वता और स्वतन्त्रता व्यक्त होती है।

कल्पना को व्यावहारिक कर्तृत्व के तुल्य नहीं समझा जा सकता। न उसे प्रमाण-व्यापार के तुल्य ही मानना चाहिए। कल्पना में न व्यावहारिक कर्म-शक्ति है, न व्यावहारिक ज्ञान-शक्ति। वह न वस्तु-जगत् में कुछ करती है न उसे जताती है। वह स्वायत्तताकांक्षी अर्थों या आभासों को संकेतों के माध्यम से व्यक्त करती है। वस्तुसत्ता से रहित अर्थों और आभासों की कल्पना के द्वारा इस प्रत्युपस्थिति के कारण ही कल्पनामूलक कला और साहित्य में अनिवार्य रूप से एक भ्रम की प्रतीति का आयाम होता है। किन्तु जैसे कर्म और ज्ञान से विलक्षण होने पर भी कल्पना चैतन्य की सहज स्फूर्ति है ऐसे ही साहित्य और कला में वस्तु और अवस्तु की कोटियों में अनिर्वचनीय अर्थों की ही प्रतीति होती है। यह स्मरणीय है कि प्रत्यक्ष आभास के भी प्रथम क्षण में यह विशेषता रहती है। प्रत्यक्ष आभास में सत्यासत्य का निर्णय सविकल्पक प्रामाण्य-विचार से ही होता है। प्राथमिक प्रत्यक्ष में आभास प्रमा और भ्रम की कोटियों में अविवेचित निमित्त मात्र होता है। सभी प्रमाणों में संगति की व्याप्ति और प्रमाणान्तर से पुष्टि परीक्षापूर्वक उपपादनीय होती है। सहज स्फुट प्रतीति या स्फूर्ति के रूप में कल्पना प्रामाणिक ज्ञान की खोज में परीक्षणीय दिशा का निर्देश कर सकती है। नाम-विकल्प से युक्त होकर वह भाषा की योजनात्मकता का रूप ग्रहण करती है और उसके साथ ही अनादिवासनामूलक विकल्पों से युक्त होकर अध्यवसाय अथवा सम्प्रत्ययन के व्यापार के रूप में प्रत्यक्ष का परिग्रह और रूपान्तरण करती है। इन दोनों ही रूपों में कल्पना ज्ञानानुकूल मानसिक क्रिया का सहज रचनात्मक पक्ष है जिसके कारण ज्ञान अपनी परिनिष्पन्न वस्तुनिष्ठता के दावे के बावजूद अनादिवासनोपहित अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न विषय-चैतन्य के रूप में अथवा विकल्पारोप्य प्रतिभास के रूप में अविसंवादी भ्रम की कोटि से उत्तीर्ण नहीं हो सकता। संक्षेप में यह कहा जा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकता है कि प्रमा वाग् विकल्प के द्वारा ही व्यावहारिक बनती है और उस रूप में वह संवादी भ्रम से अधिक नहीं होती। स्वरूपतः ज्ञान में भ्रम और भ्रम में ज्ञान के तत्त्व को देखे बिना सृजन का रहस्य और महिमा स्पष्ट नहीं हो सकती। मानव-चेतना की द्वन्द्वात्मक आध्यासिकता में ही वह रहस्य निहित है।

कल्पना का विकल्पनात्मक आयाम ज्ञानोपकारी सहज मानसिक क्रिया का है। "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते", "विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः", "अभिलाप संसर्गो विकल्पः।" वस्तु-नियत न होते हुए भी यह क्रिया नाम-जात्यादि योजनात्मक अनादिवासना से नियत है। जैसाकि भाषा और तर्क के अन्तर्योजनात्मक आयाम से स्पष्ट होता है, यह विकल्पनात्मक व्यापार सहज होते हुए भी प्रत्यक्ष के परोक्षीकरण का व्यापार है जिसमें व्यावृत्ति और संकेतानुवेध का उपयोग होता है। इसके विपरीत कल्पना का प्रतिभात्मक आयाम है। प्रतिभा एक उच्चतर ज्ञान की शक्ति के रूप में अनेक दर्शनों में स्वीकृत है। प्रतिभा अपरोक्ष या साक्षात्कारात्मक ज्ञान है जो विषय के आकार अथवा तत्त्व का प्रतिवेध करती है। आकार-प्रतिवेधिनी प्रतिभा भाषा, गणित और संगीत के क्षेत्रों में सर्वाधिक प्रस्फुटित होती है। प्रतिभा की यह दिशा अनुभव पर साक्षात् रूप से निर्भर नहीं करती। किन्तु तात्त्विक अन्तर्दृष्टि के रूप में प्रतिभा प्रायः अनुभवपूर्वक ही देखी जाती है, भले ही यह माना जाय कि वह अनुभूत विषयों के अन्तर्निहित तत्त्वों का साक्षात्कार करती है। तात्त्विक प्रतिभा विषयों के द्वारा तत्त्वों को और तत्त्वों की स्वभावगत द्वन्द्वात्मकता को प्रदर्शित करती हुई तत्त्वातीत शून्यता का साक्षात्कार करती है और इस रूप में प्रज्ञा से अभिन्न होती है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि प्रतिभा तत्त्वों से उनके मूल द्वन्द्वातीत चैतन्य की ओर ले जाती है। जहां भाषा और प्रत्ययों के द्वारा अनुभूत यथार्थ को परोक्ष किन्तु परिच्छिन्न रूप में प्रस्तुत करती हुई विकल्पना बुद्धि की सहज रचना है, वहीं प्रमाणाश्रित याथार्थ्य से अनियत अर्थों की स्वच्छन्द प्रस्तुति कल्पना का दूसरा रूप है जो इच्छा और भावना से प्रेरित होती है। साक्षात्कारात्मक और अन्तर्दृष्टिरूप होने पर कल्पना प्रतिभा पद पर आरूढ़ होती है। विकल्पना प्रमाणानुग होती है और व्यवहार्य अर्थों को अस्फुटतया रचती है, भावना आत्मपरक अर्थों की स्वच्छन्द रचना है, प्रतिभा तात्त्विक अर्थों को अपरोक्षतया रचती है। तीनों ही संकेत-रचनाओं में व्यक्त होती है और उनके द्वारा नाना प्रकार के अर्थों को प्रकाशित करती हैं। तीनों ही बुद्धि की वृत्तियों के भेद हैं। पहली प्रमाणवृत्ति का ही एक अंग है, दूसरी वासनानुकूल भावना है जिसमें अर्थों का प्रतिभास होता है। तीसरी निर्मल बुद्धि के माध्यम से आत्मशक्ति का प्रकाशन है जिससे तत्त्वों का साक्षात्कार होता है।

साहित्यिक और कलात्मक सर्जना में भावना और प्रतिभा का सम्पृक्त रूप मिलता है जिसमें एक ओर भावना में वासनानुकूल स्वच्छन्दता होती है, दूसरी ओर प्रातिभ दृष्टि और विवेक। स्वच्छन्दता और विवेक, भाव और दृष्टि के संयोग से ही सृजन अपने मूल अर्थ के गौरव का अधिकारी हो सकता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रतीकों और बिम्बों के सहारे अर्थ-विकल्पों और आभासों की रचनामात्र से सृजन अपने आपको सार्थक नहीं कर सकता। उसके लिए यह आवश्यक है कि प्रातिभ तत्त्व-दृष्टि से वह उन्मीलित हो। यह प्रायः सोचा जाता है कि साहित्यिक और कलात्मक रचना के लिए इतना आवश्यक और पर्याप्त है कि वह सुन्दर और सरस हो, उसके लिए न यह आवश्यक है, न पर्याप्त है कि वह तात्त्विकता अथवा सम्यक् दृष्टि से अभिषिक्त हो। इस पक्ष के खण्डन में यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि सरसता औचित्य से अलग नहीं की जा सकती, न सौंदर्य सरसता से। अतः औचित्य रचना की एक आवश्यक शर्त बन जाता है। औचित्य को विवेक अथवा सम्यक् दृष्टि से अलग नहीं किया जा सकता।

रचनागत विवेक सिर्फ शब्दों और प्रतीकों के प्रभावकारी संयोजन की विधि का ज्ञान ही नहीं है। साहित्यिक और कलाकृतियां अपने उपादानों के प्रयोग की विधि अथवा प्रविधि से चरितार्थ नहीं होतीं। उनके लिए रचना-सौष्ठव को मूल्यों से जोड़ना आवश्यक होता है। साहित्य की समाज में प्रतिष्ठा का मूल कारण उसकी आर्थिक अथवा राजनीतिक उपयोगिता न होकर सांस्कृतिक परम्परा का प्रतिनिधि होना है। सांस्कृतिक परम्परा मूल्यों के खोज की परम्परा है। मूल्य अन्ततोगत्वा औपाधिक आत्मवोध से अभिन्न हैं। जहां किसी को अपने को पाने की प्रतीति होती है वहीं उसे मूल्य की प्रतीति होती है, और मूल्य की सभी प्रतीतियों में प्रत्येता का आत्म-संदर्भ विद्यमान रहता है। इच्छामात्र में अपने अभाव की पूर्त्ति और चरितार्थता के साधन की प्रतीति होती है। किन्तु यह प्रतीति विश्वसनीय है या एक भ्रांतिमात्र यह विवेचनीय बना रहता है। इच्छा और विवेक दोनों के सहयोग से इष्ट विषय मूल्य के रूप में निर्धारित होते हैं। मात्र अभीष्ट विषय अथवा स्वार्थ मूल्य नहीं कहा जा सकता और न इच्छातीत स्वतःसिद्ध विषय ही मूल्य कहे जा सकते हैं। एषिता के अभाव का वास्तविक पूरक उसे अपने स्वरूप की ही पूर्णता की उपलब्धि करा सकता है।

साहित्यिक कृति में मूल्य की अभिव्यक्ति तीन स्तरों में होती है। पहले तो रचना-सौष्ठव के अन्तर्गत, दूसरे, सामाजिक मूल्यों से संस्कृत व्यंग्य भावों के स्तर पर, तीसरे, अतर्क्य मूल्यों के स्तर पर, जो कृति के चरम व्यंग्य होते हैं। अलंकार, भाव और रस के पक्ष इनके समानान्तर हैं। भावों के उद्भव और औचित्य का निर्धारण सामाजिक मूल्य-निर्धारणों से जुड़ा रहता है। इनका निरूपण अनुवादात्मक अथवा रचनात्मक हो सकता है। साधारणीकृत भाव की साक्षिता एक प्रकार के भग्नावरण आत्मबोध को व्यक्त करती है, जिसे रस अथवा अतर्क्य मूल्य की स्थिति कहा जा सकता है।

रचना का साक्षात् उपादान शब्द, रूप, ध्वनि आदि प्रत्यक्ष विषय होते हैं। रचना उनमें समवेत आकार-प्रकार से तुलनीय है। रचना और रचना के अव्यवहित अर्थों से मूल्य व्यंग्य होता है। मूल्यों का व्यंग्य होना उनके ज्ञाप्यत्व और कार्यत्व दोनों का निषेध करता है। सृजन स्पष्ट ही न तो लौकिक अर्थ में निर्माण है, न प्रामाणिक ज्ञान। सृजन मूल्य-व्यंजक प्रतीकों की योजना है, व्यंजक व्यापार संस्कारों की अपेक्षा करता है। संस्कार व्यक्तित्व

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और परिवेश पर निर्भर करते हैं। चूंकि साहित्यिक अभिव्यक्ति सामाजिक सम्प्रेषण के लिए होती है, व्यक्तित्व उसमें या तो स्वयं एक व्यंग्य मूल्य के रूप में प्रासंगिक होता है अथवा वह रचना की ही अभिव्यक्ति का नामान्तर होता है। प्रेक्षक, पाठक अथवा सहृदय का व्यक्तित्व वहीं तक प्रासंगिक हो सकता है जहां तक भाषास्पर्शी सामाजिक संस्कारों से वे संस्कारित हैं। निष्कर्ष यह हुआ कि संस्कारों का मूलाधार सामाजिक परिवेश ही है, किन्तु परिवेश शिक्षा एवं अन्य परम्पराओं से ही बनता है। इस परिवेश के कितने भाग से कौन व्यक्ति किस तरह प्रभावित होता है, यह उस व्यक्ति के निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण है, किन्तु भाषानिहित व्यंजकता-व्यापार के लिए प्रासंगिक नहीं है।

जैसे परिवेश ऐतिहासिक-सामाजिक परम्परा का आसन्न कोण है, उसी प्रकार सामाजिक यथार्थ भी परम्परा के ही परिप्रेक्ष्य में सार्थक होता है। वर्तमान का बोध इतिहास की स्पर्श-रेखा के समान है और वह अतीत के बोध के बिना ठीक प्रकार से लक्षित नहीं हो सकती। समाज एक निरन्तर प्रवाह है। इसमें उपस्थित यथार्थ उन हेतुओं और आदर्शों से विच्छिन्न नहीं होता जिनसे सामाजिक कार्यकलाप प्रेरित होता है। इस सामाजिक यथार्थ का निरूपण किसी औसत घटना या चरित्र के द्वारा हो सकता है यह भी संदिग्ध है। जैसाकि सांख्यिकी में सुविदित है, जहां किसी जन-समुदाय में आन्तरिक भेद बहुत अधिक होता है वहां औसत से उसका ठीक निरूपण नहीं किया जा सकता।

अपूर्व निर्माण के रूप में सृजन जिस अपूर्वता का आक्षेप करता है वह भी परम्परा के संदर्भ में ही ठीक-ठीक समझी जा सकती है। अपूर्वता का क्षेत्र रचना अथवा मूल्य दोनों का ही हो सकता है। यह ध्यातव्य है कि मूल्यों के क्षेत्र में अपूर्वता का उन्मेष सामाजिक इतिहास में होता है। साहित्य में उसका अनुवाद मात्र होता है। जीवन-दर्शन, सामाजिक मूल्य, विश्व दृष्टि, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य आदि के क्षेत्र में मौलिकता अथवा अपूर्वता का दावा ललित साहित्यकार के लिए प्रायः एक अतिवाद ही होता है और इस अतिवाद का जन्म नितान्त आधुनिक है। शेली ने कवि को नबी कहा था। स्वयं शेली की कविता को क्रांति का दूत ही कहा जा सकता है, क्रांति का द्रष्टा नहीं कहा जा सकता। क्रांति के द्रष्टा का पद रूसो के लिए ही सुरक्षित है। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के भारत के आदि द्रष्टा राममोहन राय थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर उन्हीं के दर्शन की प्रेरणा को अपने काव्य में चरितार्थ करते हैं। तुलसीदास का परमार्थ-दर्शन और जीवन-दर्शन एक अविच्छिन्न प्राचीन परम्परा को व्यक्त करता है। सार्त्र के उपन्यास अवश्य ही सार्त्र के दर्शन को व्यक्त करते हैं, पर सार्त्र मूलतः दार्शनिक विचारक थे, जो उनकी लेखकीय भूमिका से विविक्त है। वैसे यह आधुनिक युग का एक अन्दाज़ है कि हर एक व्यक्ति मौलिकता का दावा करता है। किन्तु यह दावा उतना ही गहरा होता है जितना उनकी वेशभूषा एवं बोलचाल के अन्दाज़ का वैशिष्ट्य है। विद्या के क्षेत्र में यह शोध एवं अनुसंधान का युग है। वैज्ञानिक अनुसंधान में प्रयत्नपूर्वक नयी उपलब्धियों को परम्परागत सिद्धान्तों के द्वारा समझने का प्रयत्न किया जाता है और उतनी ही नवीनता स्वीकार की जाती है जितनी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनिवार्य हो, किन्तु मानव-विज्ञान के क्षेत्र में चमत्कारी नयी उपलब्धियों के अभाव में भी आग्रहपूर्वक नयी अभिकल्पनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं क्योंकि उनका प्रत्यक्षीकरण के द्वारा· समर्थन अथवा खण्डन प्रायः प्रायः संभव नहीं होता है। परिणाम यह है कि मानवीय सामाजिक विज्ञान नाना परस्पर विरुद्ध धारणाओं से भरपूर हैं। दर्शन, साहित्य और कला के क्षेत्रों में भी वैयक्तिकता और मौलिकता की खोज अल्प से अल्पतर काल स्थायी रचनाओं को जन्म देती है।

× × ×

जिस परिवेश में मेरी शिक्षा-दीक्षा हुई वह अतिप्रश्न-तर्जन से अकुंठित जिज्ञासा, विचार और तर्क का था। उसकी नियामकता गुरुजनों के प्रति श्रद्धा में अथवा उनके निर्देशन में नहीं थी। उसकी एक प्रकार की अन्तर्नियामकता उस समय की उत्कट देश-भक्ति की धारा में अवश्य थी। एक ओर दयानन्द और श्रद्धानन्द के तर्कों का आकर्षण था, दूसरी ओर विवेकानन्द का वेदान्त विश्ववारा संस्कृति का उदात्त निदर्शन प्रतीत होता था। तिलक और अरविन्द के जीवन और दर्शन के परिचय से लगता था कि क्रांति की राष्ट्रीय अभीप्सा को चिरन्तन ज्ञान और योग की शक्ति प्राप्त होगी। गांधी जी के हिन्द-स्वराज और सत्याग्रह से लगता था कि तप की शक्ति उद्योग-तंत्र और साम्राज्य-तंत्र का सफल प्रतिरोध कर सकेगी। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि जिस राष्ट्र में अपनी निष्ठा के लिए दुःख झेलने की शक्ति है वह राष्ट्र कभी पराजित नहीं रह सकता। ऐसा लगता था कि गांधी जी के नेतृत्व में इतिहास इस नैतिक सत्य का साक्षी होगा।

उस समय राष्ट्रीयता, परम्परा और आध्यात्मिकता एक सूत्र के ही तीन गुण प्रतीत होते थे। पर इसके साथ ही दूसरी ओर रानाडे और गोखले एवं उनके अनुयायी, जिनमें अधिकांश विश्वविद्यालयीय प्राध्यापक भी शामिल थे, एक दूसरे प्रकार की राष्ट्रीय धारा को प्रवाहित करते थे जिसका आधार तात्कालिक पश्चिमी उदार व्यक्तिवादी विचारधारा थी। इस विचारधारा के अनुसार उदारवादी अर्थनीति और राजनीति के द्वारा लौकिक मानवीय हितों का साधन ही राष्ट्रीय लक्ष्य होना चाहिए। इस दृष्टि से न केवल पश्चिमी विज्ञान ही उपादेय था, जिसका कि सभी मनीषियों ने समर्थन किया था, बल्कि पश्चिमी सामाजिक राजनीतिक ज्ञान भी भारत के भविष्य-निर्माण के लिए आवश्यक था।

फ्रांसीसी क्रांति का आकर्षण तो टीपू और डेरोजियो के समय से ही चला आ रहा था। मनीषियों के द्वारा पारम्परिक आदर्शों के परिष्कार के प्रस्तुत होने पर इन दोनों धाराओं के संगम को शिक्षित और प्रबुद्ध वर्ग ने सहज ही स्वीकार किया और यह निष्ठा क्रमशः फैल गयी कि सहिष्णुता और अहिंसा जैसे पारम्परिक नैतिक आदर्शों के साथ स्वाधीनता, समता और प्रगति जैसे आधुनिक आदर्शों के समन्वय से ही सही राष्ट्रीय विचारधारा बन सकती है। उदारवादी चिन्तन के समानान्तर समाजवादी और साम्यवादी चिन्तन भी तीसरे दशक में अपेक्षाकृत अल्पसंख्यक लोगों को प्रभावित कर रहा था।

जिन दिनों मैं विश्वविद्यालय में पढ़ता था देश में माहौल राजनीतिक सरगर्मी का था। मुझे लगता था कि राजनीतिक विचारधारा के बुनियादी सिद्धान्तों की परीक्षा और उसकी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पारम्परिक विचारों से तुलना महत्त्वपूर्ण कार्य है। क्रमशः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यद्यपि राजनीति सामुदायिक स्वार्थों से प्रेरित होती है, उसके पीछे एक दार्शनिक दृष्टि अवश्य रहती है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन की परम्परा के विषय में अपनी अवधारणा को मैंने पीछे जैन राजनीतिक चिन्तन पर लिखी पुस्तक में संक्षेप में उल्लेखित किया है। (शायद यह कहना असंगत नहीं होगा कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उस समय लिखने और छापने पर किसी प्रकार का आग्रह नहीं था, बल्कि उदासीनता ही थी।) भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में बौद्ध परम्परा अनेक प्रकार से आधुनिक के निकट है। उसके निरीश्वरवाद, अनात्मवाद और सामाजिक उदारता ने अनेक आधुनिक भारतीय और पश्चिमी जिज्ञासुओं को आकृष्ट किया है। बौद्ध परम्परा का विशेषतया वेदान्त से क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न पर विचार करते हुए मैंने बौद्ध धर्म और दर्शन पर तथां शंकराचार्य पर कुछ पुस्तकें लिखीं।

मुझे लगता है कि मूलभूत प्रत्यय एक साथ ही अनुभूति की संदर्भ-सापेक्ष व्यावृत्तियां भी हैं और अनुभूति में अन्तःप्रतिभासित तत्त्वों के संकेत भी। प्रातिभ अनुभूति का मौलिक प्रकाशन ऐतिहासिक स्तर पर आगमों में अथवा आप्तवाणी में मिलता है। इन अभिव्यक्तियों के विश्लेषण से शास्त्र-रचना होती है और शास्त्रों की अन्वीक्षा से दार्शनिक प्रस्थान जन्म लेते हैं। नाना दर्शनों और शास्त्रों की मौलिक एकता देखने के लिए अनुभूति की नाना भूमियों को और रचना के संदर्भों को देखना आवश्यक है। भारतीय धर्मों और सांस्कृतिक परम्परा के इस समन्वयवादी व्याख्यान का सूत्रपात 19वीं शताब्दी के सांस्कृतिक जागरण से प्रारम्भ हुआ था। यह सांस्कृतिक जागरण स्वाधीनता आन्दोलन को अनुप्राणित करती हुई विचारधारा थी किन्तु इसके साथ यह विचार भी जुड़ा हुआ था कि पाश्चात्य सभ्यता के सर्वोपयोगी उदार तत्त्व अपनाये जायें। इनमें विज्ञान, जनतंत्र, सामाजिक समता आदि बौद्धिक और नैतिक उपलब्धियां शामिल हैं। संक्षेप में, प्राचीन भारत और आधुनिक युग की उदार और प्रगतिशील धाराओं को मिलाने के प्रयत्न से नयी राष्ट्रीय निष्ठा बनी थी। उदारता से मेरा तात्पर्य उस दृष्टि से है जो अपने यथार्थ को अपने आदर्शों के अनुसार ढालने के लिए तैयार हो और दूसरों के आदर्शों के प्रति सहनशील हो। विवेकानन्द ने वेदान्त को सार्वभौम धर्म के रूप में प्रतिपादित किया और हिन्दू धर्म को वैज्ञानिक योग-विद्या पर आधारित धर्म बताया। राधाकृष्णन् ने हिन्दू धर्म को उदार समन्वयवादी और युक्तियुक्त धर्म के रूप में समझा था। उन्होंने भी हिन्दू धर्म की मूलभूत आस्था को प्रातिभ साक्षात्कार पर आधारित बताया। श्री अरविन्द और रमण महर्षि ने भी आध्यात्मिक सत्य को स्वयं साक्षात्कार के योग्य विज्ञापित किया। रामकृष्ण परमहंस से अरविन्द और रमण महर्षि तक की परम्परा के अनुसार धार्मिक निष्ठा अन्ध-विश्वास या पुराणपन्थी कट्टरता पर आधारित न होकर वैज्ञानिक विधि से प्रत्येक के द्वारा प्राप्य साक्षात्कार पर आधारित है। कुमार स्वामी ने सनातन आध्यात्मिक दर्शन के आलोक में भारतीय कला के तत्त्वों की व्याख्या की। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने पारम्परिक भावों का चित्रकला में नया उन्मेष प्रकट किया। डॉ॰

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भगवानदास ने स्मृतियों की आधुनिक परिवेश में व्याख्या की। डॉ॰ काशीप्रसाद जायसवाल ने जनतंत्र के तत्त्वों को प्राचीन इतिहास में उजागर किया। गांधी जी ने पारम्परिक निष्ठा पर आधारित नैतिक चेतना को सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में व्यावहारिक रूप देने का भागीरथ प्रयत्न किया। किन्तु यह प्रयत्न सब क्षेत्रों तक नहीं पहुँचा और न इसने सरकारी शिक्षालयों और विश्वविद्यालयों को गम्भीरता से प्रभावित किया।

यह आशा कि स्वाधीन भारत में उसकी प्राचीन परम्परा का गौरव फिर से प्रतिष्ठित होगा और भारत विश्व में अपना सही स्थान पाएगा, एक दुराशा सिद्ध हुई है। पिछले पचास वर्षों में सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि में बहुत अन्तर आगया है। स्वाधीनता के पहले विदेश में भारत को एक ऐसी काल-जर्जरित पुरानी सभ्यता माना जाता था जो सामाजिक कुरीतियों, अंध-विश्वासों और जातीय वैमनस्य में निमग्न है। उसके लिए उद्धार का मार्ग केवल अंग्रेज़ी-शिक्षा, विचारधारा और गतिशील अंग्रेज़ी शासन की छत्रछाया थी। इस धारणा का स्वाधीनता के बाद क्रमशः विरोध क्षीण होता गया है। अब सरकारी स्तर पर भारतीय यह मानते हैं कि भारत उसी प्रकार का विकासशील देश है जैसा पश्चिमी राष्ट्र उसे बताते हैं। जातीय और साम्प्रदायिक भेदों से जर्जर भारत का एकमात्र मार्ग है विकसित देशों के अर्थतंत्र से जुड़कर अपना आर्थिक विकास सम्पन्न करना। न केवल यह एक नये उपनिवेशवाद का स्वीकार है बल्कि स्वाधीनता-आन्दोलन की धरोहर खोकर एक पूरी तौर से औपनिवेशिक मनोवृत्ति का स्वीकार है। प्रायः सत्तर वर्ष पूर्व आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने बौद्धिक स्वराज्य की ओर बढ़ने का नारा लगाया था। किन्तु जैसे गांधी जी का हिन्द स्वराज भुला दिया गया है ऐसे ही बौद्धिक स्वराज्य की बात भी भुला दी गयी है। भारतीय जागरण के मनीषी और स्वाधीनता संग्राम के बलिदानी भी भुला दिये गये हैं। नवजागरण को अंग्रेज़ी शिक्षा की प्रेरणा मात्र मानकर और स्वाधीनता संग्राम के मर्म को केवल बदलती आर्थिक और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का परिणाम मान कर प्रस्तुत करने से समग्र डेढ़ सौ वर्षों के इतिहास का जादुई रूप उड़ जाता है, विश्व-इतिहास का एक अपूर्व चमत्कारी परिच्छेद सामान्य ऐतिहासिक अनिवार्यताओं में लुप्त हो जाता है। भारत में अब फिर से ज़ोर-शोर से सभी अंग्रेज़ी सीखने में लगे हैं। शोधार्थी विदेश से उपाधियां प्राप्त करने में, अध्यापक विदेश में अपनी कृतियों को प्रकाशित-अनूदित कराने में और सामान्यतया सभी विचारक तात्कालिक विचारधाराओं के अनुसरण और उद्धरण में लगे हैं। इस बदले हुए वातावरण में भारतीय संस्कृति की चर्चा एक प्रकार का आग्रह मात्र या राजनीतिक चाल प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में जो इस बात की आकांक्षा रखते हैं कि भारत केवल पश्चिमी सभ्यता के सागर में लुप्त एटलान्टिस या फिर फिलीपीन्स, मैक्सिको आदि के समान न बने और जिन्हें भारत की अपनी नियति पर विश्वास है कि भारत अक्षय अध्यात्मविद्या का स्रोत है उनके लिए यह अनिवार्य है कि वे 1947 के पहले उजागर हुए मार्ग पर चलना बन्द न करें और भारतीय परम्परा के प्रश्न को आजकल के परिवेश में फिर से जांचें।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मुझे इस संदर्भ में दो विपरीत कोटियों का सामना करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। एक ओर पुरानी परम्परा को बीते युगों का ऐतिहासिक चरित्र मात्र समझने का दृष्टिकोण है, दूसरी ओर तथाकथित अनुवर्तमान पुरानी परम्परा को ही आद्य और सनातन संस्कृति मानने की दृष्टि है। पहले के उदाहरण के रूप में मैक्समूलर और खोंडा जैसे पश्चिमी प्राच्यविद् अथवा रुबेन, कोसाम्बी और देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय जैसे वामपंथी इतिहासकारों के नाम लिए जा सकते हैं, दूसरी दृष्टि के उदाहरण कट्टरपंथी शास्त्री हैं जो मध्यकालीन विचारों को ही वैदिक संस्कृति मान लेते हैं। वस्तुतः परम्परा के अन्दर विकास और ह्रास, सुधार और पुनर्जीवन युग-युग में होता रहता है। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने योग-परम्परा के लोप और उद्धार का उल्लेख किया है। भगवान बुद्ध ने अपने धर्म के ह्रास की भविष्यवाणी की है। खोज से यह सिद्ध होता है कि परम्परा का वर्तमान रूप उसका मूल रूप नहीं है; तो भी परम्परा की अविच्छिन्नता और जीवन्तता के कारण उस मूल रूप को पहचानने के लिए उसके वर्तमान रूप का आलोचनात्मक परिशीलन अपरिहार्य है।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में दो सजातीय पर विलक्षण धाराओं का संघर्ष और समन्वय देखा जाता है। प्राचीन काल में ये धारायें ब्राह्मण और श्रमण धाराओं के नाम से प्रसिद्ध थीं। मध्यकाल में सिद्ध सन्तों की परम्परा में उदारवादी दृष्टिकोण संरक्षित रहा। इसी चिरन्तन उदार आध्यात्मिक धारा से उन्नीसवीं शताब्दी का नवजागरण भी जन्मा। अंग्रेज़ियत की चुनौती उसके समक्ष एक निमित्त मात्र थी, नकि मूल प्रेरणाभूत अनुकरणीय आदर्श।

भारतीय संस्कृति एक मिली-जुली संस्कृति है, इस मत का क्षितिमोहन सेन से दिनकर तक अनेक इतिहासकारों; नृतत्व वेत्ताओं और अन्य बुद्धिजीवियों ने प्रतिपादन किया है। इस मत को सरकारी समर्थन भी प्राप्त हुआ। भारतीय सभ्यता के लिए यह कहना अवश्य ही सही है कि इसमें प्रजाति, भाषा और धर्म पर आधारित अनेक समुदायों का संकर और समन्वय देखा जा सकता है, किन्तु प्रजातीय भेद भारत में कभी भी महत्त्वपूर्ण नहीं था, भाषाएँ संस्कृत के स्वर्ण सूत्र से एक परिवार में बँधी हुई हैं, धर्मों में सहिष्णुतापूर्वक स्वायत्तता ही रही है। इन सब भेदों की पृष्ठभूमि के रूप में एक चिरन्तन आध्यात्मिक संस्कृति बहुमुखी, द्वन्द्वात्मक और अंशतः असमन्वित होते हुए भी अपने केन्द्रीय साध्यों और साधनों में अपनी मौलिकता को अक्षत रखती है। अनेकता में एकता को देखना इस संस्कृति की विशेषता है।

भारतीय संस्कृति और अन्य संस्कृतियों के अभिसम्बन्ध के विषय में एक पश्चिम-केन्द्रित मत है जो विश्व-सभ्यता में भारत को मुख्यतया ऋणी ही पाता है। पश्चिमी इतिहास-लेखन के इस मत का यूनेस्को की प्रेरणा से लिखित बृहत्काय विश्व-इतिहास में दृष्टान्त देखा जा सकता है। कुछ भारतीय इतिहासकार भी इस इतिहास-लेखन में शामिल हैं, जिनके अनुसार सभ्यता की मुख्य धारा पश्चिम में विकसित हुई और हो रही है। अन्य सभ्यताएँ उसकी सीमित सहायक मात्र रही हैं। वस्तुतः यह दृष्टिकोण आग्रह और भ्रांतियों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर आधारित है। निश्चय ही एक मूल मानव-संस्कृति को स्वीकार करना होगा। किन्तु वह सनातन और आदर्श तत्त्वों की विधा की परम्परा है जो ऐतिहासिक स्तर पर अनेकधा विभक्त हो गई है और अंशतः एक विपरीत अविद्यामूलक परम्परा से आच्छन्न मिलती है। इसीलिए इतिहास के क्रम में स्वार्थ और सत्ता पर आधारित आसुरी सभ्यताओं का ही प्रताप लक्षित होता रहा है। संस्कृति और सभ्यता का जो भेद अनेक इतिहासकारों ने किया है वह इस संदर्भ में विचारणीय है। एक आध्यात्मिक धारा के रूप में भारतीय संस्कृति के नाना चरणों में अविच्छिन्नता बनी रही है। इस अध्यात्म-साधना के स्तर पर सभ्यता सामाजिक विधान, नीति और सांस्कृतिक कृतित्व के रूप में अधिष्ठित है। सभ्यता के इन स्तरों पर भारतीय परम्परा का अनेक परम्पराओं से ऐतिहासिक सम्बन्ध और आदान-प्रदान बराबर बना रहा है। किन्तु सम्प्रेषण की मर्यादाओं के कारण यह आदान-प्रदान पिछले युगों में बहुत गहराई और विस्तार प्राप्त नहीं कर सका। वर्तमान युग में शिक्षा-व्यवस्था के सरकारीकरण से और संचार-माध्यमों के बाल वर्ग पर प्रभाव के कारण अब असंस्कृति और अपसंस्कृति के फैलने से क्या दूरगामी परिणाम होंगे यह कह सकना कठिन है।

यह बहु प्रचलित मत है कि समाज स्वायत्त और मूलभूत संस्थान है जिसका विशेषण संस्कृति है। कुछ विचारक समाज के विकास-क्रम को एक स्थिर सार्वभौम योजना मानते हैं और सांस्कृतिक विशेषताओं को समाज-रचना के प्रकार्य। वस्तुतः संस्कृति समाज की पहचान है और प्राण भी। मानव-समाज दस्यु-समुदाय की तरह सिर्फ स्वार्थों के संघर्ष एवं उपयोगिता परक सहयोग से नहीं बनता, उसके लिए भावना और निष्ठा का आधार चाहिए। नैतिक भावना और निष्ठा ही समाज को जोड़ सकती है। इन्हीं को पारम्परिक चिंतन में धर्म कहा जाता है और वही संस्कृति का अंतरंग है।

संस्कृति-विवेचना में एक बड़ी कठिनाई बनी रहती है सांस्कृतिक शब्दों के यथावत् अर्थ-निर्धारण की। व्याख्याता की अपनी संस्कृति और व्याख्येय संस्कृति के भिन्न होने पर यह कठिनाई बढ़ जाती है। तुलनात्मक संदर्भ में इसी कारण निरर्थक या भ्रामक निष्कर्ष निकाले जाते हैं। उदाहरण के लिए कीथ ने कालिदास की तुलना ऐसे वर्जिल से की है जिसके महाकाव्य से उसका छठा सर्ग निकाल दिया गया हो। संस्कृत काव्यों के अंग्रेज़ी अनुवादों की नीरसता विदित है। वेद के अनुवादों में वृष शब्द के अनुवाद की कठिनायी स्मरणीय है। वस्तुतः जो शब्द दृश्य पदार्थों के वाचक हैं वहां संकेत-ग्रह कठिन नहीं होता, किन्तु सांस्कृतिक पदार्थ स्वयं सिद्ध रूप में प्रत्यक्ष नहीं होते। उनका ज्ञान विशिष्ट सांस्कृतिक साधना और संस्कारों के द्वारा ही सम्भव होता है। इसलिए उसके विषय में लक्ष्य और लक्षण की सापेक्षता सी दिखायी देती है। उदाहरण के लिए ध्वनि सभी सुन सकते हैं किन्तु अपरिचित भाषा के वर्ण या संगीत के स्वरों को सुनते हुए भी सब पहचान नहीं सकते। पहचानने पर भी उसके सौष्ठव का आदर्श स्वर-साधना से ही क्रमशः पर अनन्तिम रूप से स्फुट होता है। यही स्थिति संस्कृति के अन्य विभागों में भी है। धर्म, साहित्य, कला आदि सभी क्षेत्रों में सांस्कृतिक पदों के अर्थ तटस्थतया प्रदत्त नहीं होते। वे सांस्कृतिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

साधना की अपेक्षा रखते हैं। जहां जितनी अधिक साधना अपेक्षित होती है वहां तुलना उतनी ही कठिन हो जाती है।

यह ध्यातव्य है कि संस्कृति के आन्तरिक विभाजन सार्वभौम रूप से नियत नहीं होते। उदाहरण के लिए संस्कृतियों में धर्म और दर्शन का, ज्ञान और विज्ञान का, कानून और रीति का अलग अलग भेद नहीं किया जाता। सब में विद्या, कला अथवा साहित्य को समान रूप से विभक्त नहीं किया जाता। प्रकार-विभाजन की इस सापेक्षता को भूलने के कारण अनेक भ्रांतियां उत्पन्न हो जाती हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन भारतीय साहित्य में ट्रेजेडी और कॉमेडी का विभाजन बुनियादी महत्त्व का नहीं माना जाता था जैसे यूनानी संस्कृति में। चीनी संस्कृति में रूपक और गीति-प्रधान उपरूपकों का भेद महत्त्वहीन है। आधुनिक साहित्य में निंदापरक विधाएँ महत्त्वपूर्ण हैं, नीतिपरक नहीं। मध्यकाल से पश्चिमी यूरोप में श्रद्धा और तर्क की अलग-अलग व्यवस्था किये जाने के कारण थियॉलजी और फिलॉसफी को बिल्कुल अलग माना जाता है। किन्तु इस प्रकार का विभाजन भारतीय शास्त्रों में नहीं दीखता।

संक्षेप में, सांस्कृतिक पद और पदार्थ न तो पारिभाषिक होते हैं, जहां लक्ष्य का निर्धारण सर्वथा लक्षण के अनुसार होता है जैसे रेखागणित का बिन्दु, न वे स्वतंत्र प्रत्यक्ष पदार्थ के समान होते हैं जैसे वृक्ष या जल, जहां लक्ष्य सुनिश्चित और प्रायः शब्द-निरपेक्ष लगता है। सांस्कृतिक प्रत्ययों और पदार्थों में लक्षण और लक्ष्य की तुल्यता और अन्योन्यापेक्षिता दीखती है क्योंकि दोनों ही एक साधनात्मक अनुभूति पर निर्भर करते हैं। यह ध्यातव्य है कि जहां प्राकृतिक पदार्थ चेतना मात्र की अपेक्षा करते हैं सांस्कृतिक पदार्थ आत्मचेतना की अपेक्षा करते हैं। यही प्रकृति और संस्कृति का अन्तर है। प्रकृति नैसर्गिक मानव-चेतना के लिए प्रदत्तवत् होती है। संस्कृति उसके आत्मबोध की वृत्ति होती है। इस आत्मबोध में स्वगत अभाव और उसके पूरक साध्य की प्रतीति से मानव-चेतना एक अनन्त पर्येषणा अथवा साधना की ओर झुकी रहती है।

वस्तुतः यह द्वन्द्वात्मक साधना-क्रम ही संस्कृति का अंतरंग इतिहास है। किन्तु यह अंतरंग इतिहास नाना साध्यों और साधनों से न्यूनाधिक रूप से सम्बद्ध होकर और असमंजस धाराओं में विभक्त होने के कारण, तथा राजनीतिक, अर्थनीतिक एवं नितान्त व्यक्तित्व-परक कर्म-धाराओं के अनियत प्रवाह के कारण किसी एक निश्चित प्रत्यय-क्रम का समुचित दृष्टान्त नहीं बनता। स्वयं प्रत्ययों के अनुभूति-परतंत्र अथवा कम से कम अनुभूति-प्रकाश्य होने के कारण उनकी स्वतः द्वन्द्वात्मकता के आधार पर भी इतिहास का कोई आदर्श क्रम निर्धारित नहीं होता। इसका परिणाम यह है कि संस्कृति की साधना में लक्षण और प्रतिमान एक अतर्क्य इतिहास के संदर्भ और क्रम से जकड़े रहते हैं। वस्तुतः चित्त ही एकमात्र वस्तु है जो स्वरूप से ऐतिहासिकता का निदर्शन करती है, क्योंकि चित्त प्रतिक्षण अपने अनुभव से बनता रहता है। इसीलिए चित्त के अनुसंधान के नाते कोई भी सांस्कृतिक साधना ऐतिहासिकता का अतिक्रमण नहीं कर सकती, यह शर्त साहित्य और कला के सृजन पर भी लागू होती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परिशिष्ट

"न रसो मनोरञ्जनमात्रं काल्पनिक-सुखास्वादो वा, लौकिक-भावानुसारिणा वा मनसा तद्विषयास्वादः, स्वाभाविकस्य वा चिदानन्दस्य आस्वादः। स हि भावव्यङ्ग्य-सत्यसाक्षात्कारः, आत्मावभासो वा। भावो न लौकिक काम-क्रोधादि वेग एव यत्र विस्मृतात्मस्वभावा मनुष्याः बाह्यर्थाननुधावन्ति अनवबुध्यमानाः स्वार्थानां मनोमयाकारत्वं नाप्यात्मनो वासनोपहितस्वभावत्वम्। नाट्यादिषु च विषयाणाम् आकारमात्रोपस्थापित्वात्, विषयिणामपि च साधारणीकरणात् साक्षात्कार्यतया मूर्त्तिमन्त इव व्यज्यन्ते भावाः। तद्विषयीकरणाच्च सविशेषात्मावभास एव वस्तुतो रसपदवाच्यः।

लोकानुकृतिर्नाट्यं पञ्चमवेदोऽपीति न विस्मर्तव्यम्। लोक-विदितेषु भावेषु निहितं सत्यं प्रत्यक्षवत् तन्निरूपयति व्यञ्जकव्यापारतः। एवं भावो लोक-परमार्थयोः सेतुरिव। व्यञ्जकश्च वराह इव भव-जलधिनिमग्नामुद्धरति भावभुवम्। तत्र चालक्ष्यते नित्यावतीर्णः परिगृहीतविशेषो रसात्मा। ननु तत्त्वमीमांसाविशेषसमाश्रितं कथमेतादृशं रस-निरूपणं समादर्तव्यम्, नहि संविदात्मा वा मर्त्यमनुष्यबोधादतिरिच्यते, नापि भावः प्राणि-प्रवृत्तेः, नापि लोक-व्यवहारातिरिक्तः कश्चित् परमार्थ इति चेत्, नैतेन कश्चिद् वास्तविको भेदः समायाति। भावनिहितं सत्यं कीदृगिति नाग्रह-विषयः। लोकानुभव-सत्यमेवास्तु, मानवीय एवात्मबोधोऽस्तु, न तेन रसबोधस्वरूपं भिद्यते, तस्य भावान्तर्दृष्टिरूपत्वात्। न भावसत्यं तार्किक-सिद्धान्तरूपेण बुध्यते; अपि तु अतर्क्य-प्रतिभान-रूपेणैव। सम्बन्धस्तु तस्य लोकानुभवेन स्थिर एव। नानेन लोकानुभवः प्रत्यक्षमपलाप्यः, तस्य गभीरतमं व्यापकतमं च तत्त्वं स्वीकर्त्तव्यम्, आत्मानुभूत्यङ्गत्वेन च तदपरोक्षतया प्रकाश्यम्। यथा दार्शनिकं सत्यं मूल-प्रतिपत्ति-समाश्रितं तर्कान्वितं च, तथैव रसानुभूति-गतं सत्यं भाव-समाश्रितं व्यञ्जना-व्यापारान्वितं च। प्रातिभी भावसत्यानुभूती रस इति तत्त्व-दर्शन-विवाद-निरपेक्षमेव। इदमत्र स्मर्तव्यं यद् भावसत्यमिति पदेन भावानां यथार्थस्वरूपं भाव-प्रकाश्य-पुरुषार्थ-विषया दृष्टिश्च मुख्यतया ग्राह्या। यथा रतेः सत्यमव्यभिचारित्वम् भावानां सामान्यतया पुरुषार्थ-योगित्वम्, पुरुष एव परोऽर्थ इति च पुरुषार्थानाम्। अविद्या-विस्मृत-स्वभावः परिमिताभिमानः पुरुषो भोगेषु अर्थमन्विष्यन् न स्वात्मन्यलक्षितस्य अभावस्य पूर्त्ति ततो लभते, अकृतार्थश्च यथा स्वहृदयप्रमाणेन स्वात्मानुकूलमर्थं भावयति सन्निकृष्यते परमपुषार्थस्य। चित्स्वभावस्य प्रत्ययात्मनो न स्वरूपतः कश्चिदर्थो जडविषयैः, नातस्ते पुरुषार्था भवितुमर्हन्ति, लोभमात्रविषयत्वात्। चेतनस्य भावस्तु चेतनविषय एव सान्द्रात्मविश्रान्तिमन्वेषमाणः। "देवा नाश्नन्ति न पिबन्ति एतन् मधु दृष्ट्वैव तृप्यन्तीति" श्रूयते। प्रियत्वमेव तन्मधु परमात्मनोऽवभासरूपं यद् विषयीकुर्वन् प्रवृत्तो मूलभावः, प्रेमैवेति वक्तुं शक्यम्। अयं च भावो निःशेषविषयालक्षित-कल्याणगुणानां निरतिशयमूलबिम्बविषयः प्रेमैव भक्तिः। अस्याश्च प्रेमलक्षणाया भक्तेरनेकधा दृश्यते व्याख्यानमाचार्येषु।"(भक्तिदर्शनविमर्शः, पृ. 113)

"एवं रसः संविद्विश्रान्तिरूपो भावसाक्षात्काराहितविलक्षणास्वादो विभावादिसमूहालम्बन-स्तद्व्यक्तश्च। व्यक्तश्च व्यक्तिविषयीकृतः चिद्-विषयीकृत इति यावत्। विभावादिव्यापारेण भग्नावरणा चिदेव स्थायि-भावमन्तःकरणधर्मं स्वप्रकाशेन प्रकाशयन्ती साक्षात्करोति। तेन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भाव एव रस इति निष्कर्षः। चितिः स्वाभासमयमपि विश्वमबुध्यमाना जाड्याहता परमितप्रमातृत्वमादधती सुखदुःखात्मके भोगचक्रे भ्रमन्ती सौभाग्येन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

साधारण्यप्रतिभानवती सहृदयतावाप्त्या व्यञ्जकभग्नावरणा स्वाकारमिव भावलोकं साक्षात्कुर्वती स्वात्मनि विश्रान्ति लभते। कविसहृदययोः समानमूले एव प्रतिभे। उक्तं हि—"कविर्हि सामाजिकतुल्य एव"। "कविगतसाधारणीभूतसंविदेव परमार्थतो रस" इति च। प्रतिभैव कविगता साधारण्येन विभावादिविषयाकारान् प्रतिबिम्बयन्ती तत्संलग्नं भावलोकं विवृणोति। तमेव च लोकं सहृदयः साक्षात्करोति संविन्मयो भावमयम्।

गुप्तपादानां रसविवरणस्यातिशायित्वं निर्विवादम्। तथापि तदीय-भावविवरणं विचारमपेक्षते। अलौकिको हि रस उक्तः कक्ष्यीकृतभावः, भावस्तु लौकिको जन्योऽपि ज्ञाप्योऽपि कथमयम् अलौकिकरसाभ्यन्तरीभवति? भावस्य रस्यमानतैव रसश्चेत् केयं रस्यमानता, किं भावस्य विक्रियाविशेषः प्रतीतिविशेषो वा। आद्ये रसो जन्यः स्यात्, द्वितीये प्रतीतेर्विषयावच्छिन्नत्वाद् विषयस्य च लौकिकत्वाद् रसोऽपि लौकिकः सम्पद्येत। रस्यमानो भावः साधारणीकृताकारमात्रोपस्थितालौकिक भावश्चेत् तस्यापि लौकिकभावेन सम्बन्धो निर्वचनीयः। साधारणीकृत भावे आकारमात्रो तत्त्वमात्रे वा कल्पिते तत्र भावस्यापरोक्षस्फुटता सुखादिरूपेण संवेद्यता च विगलेत् विकल्पमात्रं व्यावृत्तिमात्रं वा शिष्येत। रसनमपि यथाभूतसाक्षत्कारश्चेत् का तत्रास्वाद्यता? आस्वादे सति स लोकतुल्य एव स्यात्। अलौकिकत्वे च क्वास्य लोक उपयोगिता? कथमत्र दुःखिनः प्रवर्तेरन्? संविद्विश्रान्तिश्चेद् रसः, कथं भावसाक्षात्कारस्तदास्वादनम् वा? कथं वा विभावादिभिः चिदावरणभङ्ग एव सम्पाद्यः? कीदृशो वा रसास्वादः शुद्धानन्दरूपः, शांतिरूपः, सुखदुःखात्मकः, एकोऽनेको वा? अभिनवगुप्तमतेन रसः संविदो नातिरिच्यते, तस्य आत्मपरामर्शरूपत्वात्, भावोऽस्मिन्नात्मपरामर्शे उपाधिवद् वैचित्र्योपरञ्जकः। साधारणीकरण-स्वच्छाभेन भावेनाच्छादितेव संविदात्मानं विमृशति। साक्षात्कार-विषयत्वाद् भावो न साक्षात्कारिसंवित्स्वरूपभूतः। साक्षात्कारविषयत्वादेव तु संविदो नेदिष्ठः। एवं रसो लौकिकसुखचिदानन्दयोरान्तरालिकः, भावोऽपि चित्तधर्मतया न बाह्यविषयवज्जडो नापि शुद्धचिदात्मकः, चिद्भास्यस्तु विषयजाड्यप्रतीत्यनभिभूतत्वे साधारणीकृतत्वे च सति विमले चेतसि सवासनात्मनः स्वभाव इवाभासतेऽपरोक्षो यथा दृष्टान्ते सनातनमितिवृत्तं स्यात् प्रतिबिम्बितम्। वासनात्मको भाव आत्मानात्मग्रन्थिसदृशः। बाह्यविषयानुधावनप्रवर्तकः स कर्मसंश्लिष्टो लौकिको जन्यो ज्ञाप्यश्च भवत्यावेगात्मको मनोविज्ञानविषयः। विमलप्रतिभाषालिनि प्रत्यङ्मुखे चेतसि साधारणाकारतया व्यावहारिकदेशकालप्रमात्रानालिङ्गितो भावो व्यक्तः साक्षात्कृत इति यावत्। न लौकिक इति वक्तुं शक्यो लोकसिद्धकर्मज्ञानभोगभिन्नत्वात्, न कर्मयोग्यः साधारण्यात्, नोत्पाद्यो व्यङ्ग्यत्वात्, न ज्ञाप्योऽपरोक्षत्वात्। रसान्तर्भूतो भावो मनोभूमिमात्र व्यक्ताकारो विषयाकारोपस्थापक-विभावादिसमूहालम्बनात्मको वासनाक्षिप्तलोकप्रतिबिम्बसमर्पकः तद्विषयितावच्छिन्नां संविदमपि प्रतिबिम्बयति।

एवं भावो वासनात्मकश्चित्तधर्मो विमलबुद्धावाकारतः प्रतिभासमानो जीवस्वभावं तदिष्टानिष्टाकारप्रतिबिम्बनाद् अपरोक्षीकरोति। रसश्च कल्पितविषयास्वादविवेचनोपरक्तः संविद्विश्रान्तिरूपः शमस्वभावः। संविल्लोकयोश्चात्र न पारमार्थिको भेदः, विश्वस्यैव संविदाभासरूपत्वात्। रसानुभवे संविदस्तत्कालमज्ञाननिवृत्तिरिवांशिकी जायते येनास्याः प्रत्यङ्मुखत्वं स्वरूपशान्त्याभासः लोकजाड्यस्य च न्यक्कार इव लक्ष्यः। एवं भावबोधसंवलितात्मबोधरूपो रसः। विषयबोधस्तत्र इष्टानिष्टाकारकप्रतिबिम्बोपमः। आत्मापि विषयकल्पनाप्रवणेच्छाप्रधानसंविद्रूपः।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषयाभासालम्बनेन वासनाहितस्वरूपपरामर्शात्मना चैतन्येनाभिन्नरूपत्वाद् रसप्रमाता स्वप्नद्रष्टा तैजसेन तुलनीयो भाति। यथाहुः—"जाग्रत्प्रज्ञा अनेकसाधना बहिर्विषयेवावभासमाना मनःस्पन्दनमात्रा सती तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते। तन्मनस्तथा संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्यसाधनानपेक्षं जाग्रद्वदवभासते। इन्द्रियापेक्षयाऽन्तःस्थत्वान्मनसः तद्वासनारूपा स्वप्ने प्रज्ञा यस्य इत्यन्तः प्रज्ञ विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः...इह केवला वासनामात्रा प्रज्ञा भोज्या।" "भेदस्तु स्वप्नरसबोधयोः स्पष्ट एव, स्वप्ने जीवो मोहावृतत्वाद् जागरितसंस्कारमनुसरन् भ्रान्त एव, रसबोधे भावनाबलेन स्वतन्त्रतया सृजति वासनानुरूपं विवेकानुरूपं च लोकम्। अन्तःप्रज्ञत्वं वासनाभोगश्च तुल्यमेव। विवेकमोहौ च विशेषकौ। इदं च स्मर्तव्यं रसबोधलक्षणे भ्रमरूपत्वस्य बहुभिः प्राचीनार्वाचीनैराचार्यैर्निवेशः कृतः। जगन्नाथपण्डितराजसूसेनलैङ्गरकृतयोऽत्र उदाहार्याः।

परमार्थतो रसाभेदमपि स्वीकुर्वन्तोऽभिनवगुप्ताचार्या भावभेदेन रसभेदमपि अङ्गीचक्रुः भरतमुनिमनुसरन्तः। विदितमेव यत् कियन्तो भावा इत्यत्र नैकमत्यम्। मुनिना अष्टाविति प्रतिपादितम्, अभिनवगुप्तादिभिः नव रसा इति स्वीचक्रे। स एव च सम्प्रदायः प्रायेण सर्वसम्मतिं प्राप। तथापि भोजराजादया वैष्णवाचार्याश्च नूतनानि मतानि प्रकाशयामासुरिति विदितमेव।

गुप्तपादा भावनिर्धारणप्रसङ्गे आहुः—"स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति, तथा हि "दुःखसंश्लेष-विद्वेषी सुखास्वादनसादरः" इति न्यायेन सर्वो रिंसया व्याप्तः स्वात्मन्युत्कर्षमानितया परमुपहसन्नभीष्टवियोगसंतप्तस्तद्हेतुषु कोपपरवशन्शक्तौ च ततो भीरुः किञ्चिदार्जिजीषुरप्यनुचितवस्तुविषयवैमुख्यात्मकतयाक्रान्तः किञ्चिदनभीष्टतयाऽभि-मन्यमानस्तत्तत्स्वकर्तव्यदर्शनसमुदितविस्मयः किञ्चिच्च जिहासुरेव जायते। न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यचित्काचिदधिका कस्यचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता कस्यचिदन्यथा। तत्काचिदेव पुमर्थोपयोगिनीति उपदेश्या। तद्विभागकृतश्चोत्तमप्रकृत्यादिव्यवहारः।" हेमचन्द्राचार्यैरपि सदृशमेव विवरणमुपन्यस्तम्। तथापि साक्षात् स्वचित्तप्रत्यवेक्षयैव न भावानामियत्ता निर्धारियतु शक्येति स्मरणीयम्।

न च स्थायिनोऽनादिवासनात्मका एव, अनुभववासनानामपि तत्रान्तर्भूतत्वात्। सहजोऽभिमानस्तन्निबन्धनौ रागद्वेषौ सहजाभिनिवेशान्मृत्युभयं दुःखानुभवः कामश्चेति सर्वमनुष्येषु जन्मतो लक्ष्यन्ते, तथापि तेषां लोकसम्मतानि रूपाणि तु भिद्यन्त एव। तान्येव च लोकप्रतीतानि कविरनुसरति, न नानाशास्त्रविवादितानि तन्मूलभूतानि परोक्षाणि तत्त्वानि। पुनश्च, विवेकित्वाद् मनुष्येषु धर्मबुद्धिरास्तिक्यबुद्धिश्च दृश्येते तन्मूलोत्साहभक्ती च। नानालोकव्यवस्थासु एतादृश्यो वृत्तय इच्छामूला भावपदेन व्यपदेश्या अनियतसंख्याका अनियतरूपाश्चोपलभ्यन्ते, विभावादयोऽपिं तेषां विद्यन्त एव। न तत्र इयत्ताकरणं युज्यते। अतश्च रससंख्यानियमनमपि न युज्यते। सहजप्रवृत्तिनिबन्धना आवेगाः, लौकिकाभिमानाधिष्ठाता भावाः, रसाभ्यन्तरीभूताः साधारणीकृताश्च भावा इति तिस्रो भूमयो विवेचयितुं शक्याः। आद्या नियतप्राया, अपरे द्वे तु अनियतविषये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अभिनवगुप्तपादास्त्वाहुः—"एवं ते नवैव रसाः। पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात्। तेन रसान्तरसम्भवेऽपि चार्षप्रसिद्ध्या संख्यानियम इति यदन्यैरुक्तं तत्प्रत्युक्तम्।...आर्द्रतास्थायिक स्नेहो रस इति त्वसत्। स्नेहो ह्यभिषङ्गः। स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति।...एषैव गन्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या।...एवं भक्तावपि वाच्यम्।" इदं तु पूर्वोक्तयुक्तिविरुद्धं चिन्त्यं च। रसास्वादस्य शमप्रायत्वमभिदधद्भिराचार्यैस्तस्याद्वैतमेवार्थत आक्षिप्तम्। भावानामनियतत्वं तु इतिहाससिद्धम्।

एक एव रसो नानाभावोपाधिविभेदितः।
आत्मप्रतीतिसंलग्ना भावाः संस्कारभेदिताः॥"

(सौन्दर्यदर्शनविमर्शः, पृ. 103-05)

भाव और मूल्य

इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि यद्यपि कला में अनुभूत भाव द्रष्टा के संस्कारों की अपेक्षा रखता है उसकी अनुभूति निर्वैयक्तिक रूप से होती है, विषयी से अभिन्न और विषयगत् न होते हुए भी वह भाव स्वयं विषयवत् स्पष्ट और आस्वाद्य होता है। इस प्रकार का आस्वादन चेतना का एक निराला आयाम है और उसका लौकिक इच्छा-पूर्ति, भोग, भावुकता आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह भाव का उदय कल्पना के स्तर पर होता है और यह उदय वास्तविक उत्पत्ति न होकर अभिव्यक्ति मात्र होता है। वास्तविक उत्पत्ति में भाव अपने विषय की वास्तविकता में विश्वास की पूर्वापेक्षा रखता है और व्यक्तित्व से सम्बद्ध होकर ही उत्पन्न होता है। कल्पना के स्तर पर भाव आकारतः व्यक्त होता है, न कि सत्तया उत्पन्न। इस प्रकार का विशदाकार और व्यक्तित्व-मुक्त भाव चेतना के सहज आनन्द को सविशेष और सालम्बन रूप में प्रतिबिम्बित करता है। प्रत्येक भाव एक 'स्थिति' की परिधि में मूल्यावभास होता है। 'स्थिति' मूलतः आत्मिक होती है किन्तु 'यथार्थ जीवन' में वह व्यवहारासक्त 'अहं-मम' के निजीपन या अविद्या से आवृत होती है। इस आवरण के भङ्ग होने पर आत्मा की एक एक औपाधिक स्थिति द्रष्टा या साक्षी आत्मा के अन्तरङ्ग आलोक में उद्भासित हो जाती है। इस स्थिति के लोकोत्तर अलगाव में लौकिक भाव अविद्या की रचना न रह कर स्वयं लोकोत्तर आत्मानुभूति बन जाता है जिसे अन्तर्दृष्टि भी कहा जा सकता है, आस्वाद भी। भाव 'जगत् के प्रत्यक्ष का एक प्रकार' न होकर आत्मा के 'आभास' का एक प्रकार है। यह बात दूसरी है कि 'विक्षेप'-रूप में जगत् स्वयं आत्मावभासी है, पर बिना अविद्या के कथंचित् स्थगन के 'जगत् का प्रत्यक्ष' दुःखात्मक अनात्म-प्रत्यक्ष ही रह जाता है।" (**मूल्यमीमांसा, पृ. 203**)

11, बलरामपुर हाउस,
इलाहाबाद-211002

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गाँधी जी की धर्म-प्रतिभा

मुकुन्द लाठ

अभी पिछले दिनों एक बड़े धर्मशास्त्री हो गये हैं जो गांधी के साथी भी थे : लक्ष्मण शास्त्री जोशी। महाराष्ट्र में कृष्णा पर एक प्रसिद्ध तीर्थ है, वाई, जो अभी पिछले दिनों तक विद्या का भी प्रसिद्ध तीर्थ रहा है। लक्ष्मण शास्त्री जोशी वहां प्रज्ञा पाठशाला नाम की एक संस्कृत की पुरानी परिपाटी में ढली पाठशाला चलाते थे। पाठशाला के प्रस्थापक थे केवलानन्द सरस्वती। केवलानन्द जी में प्राचीन के साथ नवीन का विलक्षण मिश्रण था। नवीन में दो बातें विशेष लक्षणीय हैं : एक तो राष्ट्रप्रेम। इसने उन्हें नवीन चिन्तन की ओर झुकाया। वे अद्वैती थे—उन्होंने मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि पर मराठी में भाष्य भी लिखा है। पर उनका दर्शन इस बात में विलक्षण था कि उनकी परमार्थ-दृष्टि मात्र निवृत्ति-मार्गी नहीं थी, सार्थक प्रवृत्ति पर भी वे विचार करते थे। वेदान्त को वे आत्मा की मुक्ति का ही नहीं, राष्ट्र की मुक्ति का भी मार्ग मानते थे। यह भी मानते थे कि राष्ट्र के स्वातंत्र्य का सही अर्थ होगा शिक्षा का राष्ट्रीयकरण। शिक्षा की नींव राष्ट्र के अपने चिन्तन में होनी चाहिये। स्वतन्त्रता-आन्दोलन के कई क्रांतिकारी उनसे प्रभावित हुए। ब्रिटिश दण्ड से भागते-छुपते प्रज्ञा पाठशाला की शरण ली और अद्वैत वेदान्त के विद्यार्थी हुए। केवलानन्द जी में दूसरी नवीन बात थी, इतिहास-दृष्टि। इस दृष्टि से उन्होंने धर्मशास्त्रों को देखा और पाया कि शास्त्र का धर्म-चिन्तन स्थाणु नहीं रहा है, जैसा कि मानने की हमारी प्रवृत्ति है। धर्म-चिन्तन में सार्थक परिवर्तन होते रहें हैं : नये का समावेश। दूसरे शब्दों में, उसका भी इतिहास है। इस इतिहास को उभारने के लिए उन्होंने **धर्मकोश** की परिकल्पना की। **धर्मकोश** धर्म के विभिन्न अंगों—संस्कारधर्म, राजधर्म, व्यवहारधर्म, वर्णाश्रमधर्म आदि इन अंगों पर वेदों से लेकर आधुनिक काल तक के विस्तृत और विशालकाय शास्त्रीय वाङ्मय का इतिहासनिष्ठ संकलन है। धर्मकोश कई काण्डों में विभक्त है। जैसे संस्कारकाण्ड, व्यवहारकाण्ड . . . । हर काण्ड की सामग्री को विषय, फिर प्रकरण के आधार पर बांटा गया है और हर विषय और प्रकरण की सामग्री को कालक्रम से सजाया गया है। **धर्मकोश** में संकलित शास्त्रीय चिन्तन की सजीवता और सजीवता के साथ सहज जुड़े विचार-मंथन और परिवर्तन की एक झांकी हम उन्मीलन के एक विगत अंक में प्रस्तुत कर चुके हैं। 'राजा कौन हो?' इस नाम के लेख में। झांकी परवर्ती चिन्तन की है, जहां मनु के एक श्लोक पर टीकाकारों और निबन्धकारों के मत-मतान्तर और विवाद आगे आते हैं। यह तत्त्व भी आगे आता है कि शास्त्र की बात वैसी बन्द और जकड़ी हुई नहीं थी जैसा हमने सोचने की ठान ली है। बात में खुलापन था। अनेकान्त का स्पष्ट स्थान था।

केवलानन्द जी के बाद लक्ष्मण शास्त्री प्रज्ञा पाठशाला के संचालक हुए और **धर्मकोश**

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के सम्पादक। लक्ष्मण शास्त्री गांधीजी के साथी भी रहे। एक कहानी सुनाते थे जो यहां दोहराना चाहता हूँ। गांधीजी को पुराने शास्त्रों में श्रद्धा थी और यह विश्वास था कि धर्मशास्त्रों में छुआछूत का और शूद्रों को 'नीच' मानने का वैसा गहरा आग्रह और प्रमाण नहीं है जैसा माना जाता है। लक्ष्मण शास्त्री से उनकी बातचीत हुई तो उनका विश्वास और दृढ़ हुआ। वे बिहार में जेल में थे तो उन्होंने लक्ष्मण शास्त्री से कहा कि कुछ धर्मशास्त्रियों को बुलायें और उनके साथ इस विषय पर शास्त्रार्थ का आयोजन करें—पंडितों के प्रति पूरे सम्मान के साथ। लक्ष्मण शास्त्री ने पण्डितों से सम्पर्क किया। शास्त्रार्थ की बात हुई; पण्डितों ने स्वीकार की। एक समयबन्ध किया गया। शास्त्रार्थ का समयबन्ध एक शर्तनामा या समझौतों का खसरा होता है कि प्रमाण क्या माना जायेगा, क्या नहीं। पण्डितों की शर्त थी कि स्मृति को प्रमाण मानेंगे जो कि ठीक ही है, धर्म में स्मृति ही प्रमाण मानी जाती रही है। लक्ष्मण शास्त्री ने कहा कि स्मृति में संकर जातियों की उत्पत्ति को लेकर जो प्रतिपादन है उसको भी प्रमाण माना जायेगा। पण्डितों ने इस शर्त को मानने से इनकार कर दिया। गांधीजी ने कहा कि छोटी सी बात लगती है, फिर स्मृति की ही बात है, इससे पण्डित क्यों मुकरते हैं? पर लक्ष्मण शास्त्री बोले कि देखियेगा इसी बात पर शास्त्रार्थ की बात बिखर जायेगी। हुआ भी यही। पण्डितों का समाज जेल के फाटक तक आया, पर अपने बांधे समयबन्ध से बिलकुल इधर-उधर नहीं हुआ। पर लक्ष्मण शास्त्री ने जैसा कहा था, जातियों की उत्पत्ति-विषयक स्मृति-वचन को पण्डितों ने प्रमाण की कोटि में रखने से इन्कार कर दिया।

पर स्मृति को मानने वालों ने भी स्मृति की ही इस छोटी सी बात से इनकार क्यों किया? गांधीजी ने लक्ष्मण शास्त्री से पूछा। लक्ष्मण शास्त्री बोले कि पण्डित चतुर, बुद्धिमान हैं, भांप गये कि बात मैं किधर ले जाना चाहता हूँ। जानते हैं कि मनु या दूसरे स्मृतिकारों ने जाति की उत्पत्ति के बारे में जो सिद्धान्त सामने रखा है उसकी परीक्षा की जाये तो प्रमाण में पूरा नहीं उतरेगा। समाज में जातियां हैं वर्ण नहीं। वर्ण तो जातियों के विभाजन की कोटियां हैं—हर वर्ण में ही कई जातियां होती हैं। वर्ण का गुण-कर्म से भी सम्बन्ध है, जन्म से भी। जातियां अनेक हैं और सदियों से रही हैं। भारत के समाज और राज-व्यवस्था में जाति की सत्ता और स्वरूप का सम्बन्ध वर्ण के ऊंच-नीच से ही नहीं समाज और राज्य-नय के अन्य पक्षों से भी रहा है। पर उनकी चर्चा यहां अवान्तर और विषयान्तर होगी। उसमें नहीं जाऊँगा। वर्ण से जो जाति का सम्बन्ध है, उसके दो पक्ष यहां इस प्रसंग में देखने के हैं। एक तो तारतम्य। कहना न होगा वर्णों में एक तर-तम भाव है—ऊँच-नीच। पर गुण-कर्म भी जाति के लक्षण का अंग है। और गुण-कर्म के आधार पर चार ही वर्ण हों, यह गिनती अधूरी पड़ती है—जाति-भेद और उनमें गुण-कर्म भेद की जटिलता और विविधता को आँकने में बड़ी क्षीण जान पड़ती है। चार से काम नहीं चलेगा, यह बोध प्राचीन है। शुक्ल यजुर्वेद में पुरुषमेध यज्ञ के प्रसंग में जो मनुष्यों के प्रकार गिनाये गये हैं उसी से यह बात प्रकट है। स्मृतिकारों में, जिनके अग्रणी मनु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

माने जाते हैं, उनमें यह बोध एक विचित्र रूप लेता है। वे चार को रखते हुए भी चार का चौंसठ बनाना चाहते हैं। एक ऐसी प्रक्रिया बनाते हैं जिसमें इतिहास और सिद्धान्त का विषम, अनहोना मेल है। जातियों के वैविध्य को आँकने के लिए वे वर्ण-संकर की बात करते हैं। कहने को वर्ण-संकर चार वर्णों से भिन्न 'वर्णों' की उत्पत्ति का सिद्धान्त है, पर मनु के मन में चातुर्वण्य के बाहर या चातुर्वण्य से अतिरिक्त वर्णों की बात नहीं है—चातुर्वण्य की 'चार', यह संख्या उनके लिए अटल, निर्विवाद है, क्योंकि आर्ष है, पुरुषसूक्त में श्रुति ने ही यह संख्या बांध दी है। पर वे कहते हैं कि चार वर्णों के अन्तराल में और भी वर्ण हो सकते हैं—और चौथे शूद्र वर्ण के नीचे के अन्तराल में—एक और शून्य के बीच में, या यों कहें कि मनुष्य और पशु के बीच में भी, साधारण शूद्र से निम्नतर संकर-वर्णों की गिनती हो सकती है। तारतम्य की कुछ ऐसी सीढ़ी मनु बनाते हैं जहां चार को रखते हुए भी चार के बीच-बीच और चार के नीचे और गिनतियां बैठ जायें, और चार चार रहते हुए भी चौंसठ हो जायें।[1] पर एक बात ध्यान में रखने की है : जाति कितनी ही हीन क्यों न हो, मनु उसे मनुष्यत्व की कोटि से नहीं गिराना चाहते, कहते हैं कि मनुष्य के जो साधारण धर्म हैं : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह, ये सबके लिए हैं—अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः / एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीतमनुः॥ (मनुस्मृति, 10,63)। इस विचार से वे उन आधुनिक चिन्तकों से भिन्न हैं जो कुछ मनुष्य-समूहों को, जैसे अमरीका के रेड-इण्डियनों को, या अफ्रीका के कृष्ण-वर्णों को, मनुष्य-सदृश ही मानते थे, मनुष्य नहीं। उन्हें पशु की कोटि में रखना पसन्द करते थे।

मनु की संकर-प्रक्रिया उतनी ऋजु भी नहीं जितनी ऊपर के विवरण से लगती है। मनु चार वर्णों के सिवा द्विज वर्ण या सवर्ण के व्रात्यों की भी बात करते हैं, जिन्हें हम तीन वर्णों के तीन 'अशुद्ध' रूप कह सकते हैं। 'अशुद्ध' इसलिए कि किसी भी शुद्ध वर्ण का व्रात्य-वर्ण वह होता है जो वर्णोचित संस्कार और आचार से 'पतित' हो गया हो—द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान्। तान् सावित्रीपरिभ्रष्टान्व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्॥ (मनुस्मृति 10,20)। हम देखते हैं कि व्रात्यों को 'अव्रत' —'आचारभ्रष्ट'— ही नहीं, 'सावित्री परिभ्रष्ट' भी कहा गया है। ये लोग वेदमार्ग से हटे हुए माने गये हैं—उसी वर्ण के लोग जो किसी रूप में अवैदिक हो गये थे : मेधातिथि इन्हें 'अवेदव्रता' कहते हैं। ये कौन थे, या कौन-कौन थे, यह प्रश्न सहज ही उठता है, पर यहां नहीं उठाऊँगा। यहां बात इसलिए उठाई कि समाज में मनु ने जिन्हें 'नीच' जाति का माना है वे उसी वर्ण के शुद्धों और व्रात्यों का संकर हो सकते थे। व्रात्य-संकर को सही अर्थ में वर्ण-संकर नहीं कह सकते, क्योंकि व्रात्य की उत्पत्ति जन्म से नहीं आचार से होती है। यों मनु के लिए जन्म ही नहीं कर्म भी संकर का कारण हो सकता था। पर कर्म का पलड़ा उनके यहां हलका है, आया-गया सा है—क्योंकि व्रात्य से नये 'वर्ण' का उद्‌भव कर्म से नहीं जन्म से ही होता है : व्रात्य ब्राह्मण और वर्ण ब्राह्मण इनकी सन्तान ही नये वर्ण को जन्म देती है, जो 'भृज्जकण्टक'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कहलाते थे।

मैंने मनु के भीतर यहां थोड़ी सी गहरे डुबकी इसलिए लगाई कि उनके सोचने का ढंग, उनकी विचार-कल्पना कुछ आगे आये। लक्ष्मण शास्त्री इससे इच्छी तरह परिचित थे। जिन पण्डितों से शास्त्रार्थ की बात की, वे भी परिचित थे। दोनों जानते थे कि मनु का सिद्धान्त प्रमाण पर खरा नहीं उतर सकता। कारण सीधा सा है : सिद्धान्त विचार की कल्पना है—चार से अधिक वर्णों को चार से ही निकाल लेने का एक चतुर बुद्धि-कौशल। पर यह अपना आधार इतिहास को—किसी सचमुच घटित वृत्तान्त या तथ्य को—ठहराता है। ऐसे और भी समाज-विषयक सिद्धान्त हैं जो विचार-कल्पित होते हुए भी इतिहास का भेस अपनाते हैं : जैसे समाज के समाज-रूप में उदय का समझौता-सिद्धान्त। जो कहता है कि समाज के आद्य-काल में व्यक्तियों ने मिलकर एक समय-बन्ध—एक 'समझौता'—किया जिसने व्यक्तियों को परस्पर-सम्बद्ध समष्टि में गूँथा। सिद्धान्त का आधार इतिहास है, पर इतिहास में इसका प्रमाण असम्भव है। इतिहास के विदित वृत्तान्तों का सहारा लें—या उनसे अनुमान करना चाहें, तो हमें 'समझौता' जैसी कोई आद्य-स्थिति बनती दिख ही नहीं सकती। यह एक कल्पना है जो एक दृष्टि-विशेष से हमारी आज की परिस्थिति को समझने के लिए की गई है। इतिहास तो एक बहाना है। वर्ण-संकर के सिद्धान्त के साथ भी यही बात है। इतिहास या इतिवृत्त में उसका प्रमाण नहीं मिलेगा। लक्ष्मण शास्त्री ने कहा कि किसी भी जाति के वृद्धों से पूछो—उनके भाटों से पूछो जो उनका इतिहास रखते हैं—कोई जाति किसी ऐसे अनुलोम या प्रतिलोम सम्बन्ध तक पीछे नहीं जाती जिसकी मनु बात करते हैं। ऐसे किसी सम्बन्ध से जो इक्की-दुक्की या गिनती में नगण्य सन्तानें अलग-अलग विच्छिन्न भाव से जन्म लेती हैं वे जाति का संगठन कैसे बनाती हैं? मनु ऐसी किसी प्रक्रिया की कोई बात नहीं करते और ऐसी किसी प्रक्रिया का होना यों भी अनहोना लगता है। उलटे मनु स्वयं अन्यत्र—मनुस्मृति के नवें अध्याय में—उन पुत्रों की चर्चा करते हैं जो ब्राह्मण पिता से किसी अन्य वर्ण की पत्नी की सन्तान हों। मनु इस बात का विधान करते हैं कि ऐसे पुत्रों का पिता की सम्पत्ति में हिस्सा क्या होगा। किसी नये अनुलोम वर्ण की उत्पत्ति का या वर्ण-संकर का कोई इंगित नहीं देते। मेधातिथि भी ऐसी सन्तानों को वर्णसंकर में नहीं गिनते। मेधातिथि पूर्वपक्ष का एक प्रश्न उठाते हैं कि ऐसी सन्तान की जाति क्या? क्योंकि ये सच्चे ब्राह्मण तो नहीं कहला सकते। उत्तर में कहते हैं कि इनकी जाति का प्रश्न ही अप्रश्न है। ये मनुष्य-जातीय हैं। इनकी पहचान भी होती है : अमुक का अमुक से जन्मा बेटा (देखये मेधातिथि, मनुस्मृति 10, 5 पर)। पर न मेधातिथि, न मनु दोनों ही इनको किसी संकर की उत्पत्ति से नहीं जोड़ते। यों जातिभेद की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त कल्पना ही है। जातियों का इतिहास एक टेढ़ा और जटिल प्रश्न है, और किसी एक प्रक्रिया से सब जातियों का उद्भव हुआ हो यह मानना भी ठीक नहीं लगता। विषय खोज का है। जातियों के अपने इतिहास को भी इस खोज का आधार बनाया जा सकता है—जो कुछ थोड़ा मैंने देखा है उससे लगता है कि जातियां

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अक्सर दूसरी जातियों से ही बनी हैं। मनु ने जो जातियों की स्थिरबद्ध और अटल शृंखला भी अपनी सिद्धान्त-कल्पना के सहारे बनाई है उसका उद्देश्य है जातियों के ऊँच-नीच को एक पक्की व्यवस्था दे देना। मनु ने व्यवस्था को इतिहास में रखना चाहा है। इतिहास में यह तो हुआ है कि जातियां नीची से ऊँची, ऊँची से नीची होती रही हैं। वर्ण तक बदलती रही हैं। अब्राह्मण से ब्राह्मण तक हो गई हैं, जिसके पुराणों में ही प्रमाण हैं, जो पण्डितों को स्वीकृत हैं। पर वर्ण-संकर का कोई प्रमाण नहीं। यों मनु का इतिहास कल्पना ही है। प्रमाण के आगे नहीं ठहर सकता। लक्ष्मण शास्त्री भी जानते थे, पण्डित भी। इसीलिए पण्डितों ने शास्त्रार्थ से इन्कार कर दिया।

पर मेरा उद्देश्य यहां मनु की नहीं गांधी जी की चर्चा करना है। इसीलिए लक्ष्मण शास्त्री का यहां मैंने परिचय दिया। मनु को मैं प्रसंगवश ही लाया पर जब लाया और बात उठाई तो उसे ऊपर-ऊपर से टाल देना सम्भव नहीं था—मनु से हमारा ऐसा परिचय नहीं कि उल्लेख मात्र से बात सबके आगे आ जाये। पर बात उठाना मैं समझता हूँ व्यर्थ भी नहीं रहा है। लक्ष्मण शास्त्री उसी परम्परा में थे जिसमें मनु और मेधातिथि थे, पर एक भेद था जो सामने रखता हूँ।

एक वार लक्ष्मण शास्त्री जोशी जयपुर आये थे। उन्हें सम्मान दिया गया। उनके साथ दो-एक गोष्ठियां हुईं। एक गोष्ठी में मैंने उनसे पूछा : क्या धर्म में प्रतिभा की—सृजन के नये उन्मेष की—बात की जा सकती है? शास्त्री जी को प्रश्न नया सा लगा, पर अटपटा नहीं लगा। उन्होंने प्रश्न को उड़ा नहीं दिया जैसा कि मुझे कुछ डर था। जैसा दूसरा शास्त्री करता ही। उन्होंने सोचा—पर थोड़ी ही देर—और सोच कर कहा, क्यों नहीं, गांधीजी में थी ही।

मेरे मन में यह प्रश्न बहुत दिनों से रहा है : गांधी जी में धर्म-प्रतिभा क्या थी? लक्ष्मण शास्त्री जी से मैंने यह प्रश्न नहीं पूछा—पूछना चाहिये था। न जाने वे इसका क्या उत्तर देते। पर मैं अपनी तरह से गांधी की धर्म-प्रतिभा को समझना चाहता हूँ।

समझने के लिए धर्म और नीति के सम्बन्ध पर विचार करूंगा और परम्परा के आधार पर करूंगा, क्योंकि मैं समझता हूँ कि जो मैं कहने जा रहा हूं उसकी विस्तार से गांधीजी को जानकारी न भी हो तो भी उसकी गूंज उनमें थी। गांधीजी की जड़ें परम्परा में गहरी थीं और परम्परा की धरती से ही प्राण का रस लेती थीं। कई ऐसी बातें थीं जिनके बारे में गांधीजी कहते थे कि उन्होंने परम्परा से पाई हैं, हालांकि कहां से और कैसे इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए इतिहास में नहीं जाते थे। धर्मपाल जी ने उनकी ओर से इतिहास में पैठ की है। उनके विचार और कर्म का परम्परा से सम्बन्ध जोड़ा है। जैसे असहयोग—जो सत्याग्रह का ही अंग है—उसके बारे में दिखाया है कि उसकी परम्परा पुरानी थी। अंग्रेज़ों के साक्ष्य के आधार पर दिखाया है। पर परम्परा को और भी पीछे ले जाया जा सकता है। मैं पिछले दिनों 10वीं सदी की एक अपभ्रंश कथा पढ़ रहा था, उसमें भी 'असहयोग' या 'धरना' की चर्चा है। मैं धर्मपाल जी के सूत्र की पकड़ को बढ़ाते हुए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गांधी जी के बृहत्तर विचार और कर्म को—उनकी अहिंसा और सत्याग्रह की धारणा को—परम्परा से जोड़ना चाहता हूँ। जोड़ की गांठ कैसी भी हो, ढीली हो या कड़ी हो, इतना ज़रूर है कि परम्परा की धरती पर रख कर गांधी जी को समझें तो समझ में एक नई पकड़ आयेगी, एक नया प्रकाश आयेगा।

इसके लिए मैं समझता हूं एक बात और ज़रूरी है। जाने कितने स्कूलों और सरकारी शिक्षा-संस्थानों में देखा है : बुद्ध, गांधी, जवाहरलाल नेहरू। यह आनुवंशिकी ठीक नहीं है—जवाहरलाल नेहरू तो यों भी अलग से ही हैं। पर गांधी जी को बुद्ध से जोड़ना भी ठीक नहीं है। कम से कम अधूरी बात तो है ही। मैं इस आनुवंशिकी में युधिष्ठिर और कृष्ण को भी लाना चाहता हूं। धर्म में प्रतिभा की बात तभी खुलेगी।

'खुलने' की बात जानबूझ कर कर रहा हूं। प्रतिभा की बात सृजन की बात है, इसलिए खुलेपन ही की बात है। पर धर्म को हमारी परम्परा में ही क्या, सभी परम्पराओं में बंधन की बात माना जाता है—स्वच्छन्द सृष्टिकर्म की बात नहीं। धर्म बांधता है। खोलता नहीं है। फिर धर्म में प्रतिभा की बात कैसी ?

पर यों सोचिये : धर्म जहां तक मनुष्य के कर्म के औचित्य की बात है, स्वातन्त्र्य उसमें होगा ही। स्वातन्त्र्य के बिना स्वच्छन्द की भी बात क्या ? धर्म जो बांधता है, इच्छा को बांधता है—रागतः प्राप्त को बांधता है, विवेक को नहीं बांधता, विवेक को तो खोलता ही है। पर, हां, अगर केवल धर्मशास्त्रों को देखें, कहीं के भी धर्मशास्त्रों को ही देखें तो बोध यही होगा कि धर्म जीवन के हाथ-पांव जैसे कस-जकड़ के रख देना चाहता है। पर धर्मशीलों के जीवन को देखिये, जकड़ाव नहीं खुलापन है। पर प्रश्न है कि हमारी परम्परा के धर्म-विचार में इसका इंगित है तो कहां ? मैं समझता हूँ कि धर्मशास्त्रों से हटकर **महाभारत** की ओर झुकना होगा जहां धर्म प्रश्न है, उत्तर नहीं। विचार की दृष्टि से कृष्ण इस खुलेपन की बात करते हैं। बड़े मार्मिक-भाव से करते हैं। धर्म में प्रतिभा की बात करनी हो तो उनकी बात के आधार पर बात को आगे बढ़ाया जा सकता है।

महाभारत का एक प्रसिद्ध प्रसंग है। ('धर्मसंकट' में चर्चा कर आया हूँ) युधिष्ठर ने क्रोधवश कह दिया कि अर्जुन गाण्डीव किसी और को दे दें, धनुष उसको शोभा नहीं देता। हुआ यह था कि अर्जुन युद्ध में उनकी रक्षा के लिए नहीं आये और इसी बात पर, कर्ण से सताये जाकर युधिष्ठिर आक्रोश में आ गये। अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि कोई अगर गाण्डीव को उनसे छीनने की बात करेगा तो वे कहने वाले के प्राण ले लेंगे। अब अर्जुन पर यह बन आई कि वे युधिष्ठिर के प्राण लें। प्रतिज्ञा-पालन धर्म है : सत्य रूपी परम-धर्म है। क्या करते ? कृष्ण अवस्था को संभाल लेते हैं। एक पते की बात कहते हैं : कहते हैं कि ठीक है, सत्य परम-धर्म है, उसका पालन करना चाहिये। पर धर्म को विधि-विधानों में नहीं ढाला जा सकता, चाहे कैसा ही 'परम' विधान क्यों न हो—जैसे 'सत्य परम धर्म है।' कृष्ण कहते हैं : माना कि सत्य परमम-धर्म है, पर सत्य का 'अनुष्ठान' कैसे हो ? क्या सत्य बोलने से सत्य का अनुष्ठान हो जाता है ? 'अनुष्ठान' का अर्थ यहां 'प्रयोग'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ही है। कृष्ण की बात को यों रखा जा सकता है : व्यवहार में धर्म का प्रयोग किसी विधि से नहीं बँध सकता, चाहे विधि किसी परम 'तत्त्व' का आधार क्यों न लेती हो। धर्म का 'करना' किसी सीधे-सादे नियम की बात नहीं हो सकती। कृष्ण यही कहते हैं कि धर्म का प्रयोग किसी विधान से नहीं बँध सकता—क्योंकि धर्म की आत्मा विधानों के परे है। इसीलिए फिर कहते हैं कि धर्म का प्रयोग किसी विधिविधान से या विधिविधान देने वाली श्रुति से नहीं सीखा जा सकता—ऐसा नहीं है कि ये मिथ्या हैं, पर इनके मर्म को पकड़ना प्रतिभा का काम है। धर्म धर्म के प्रयोक्ता से ही सीखा जा सकता है। उसका प्रयोग कौशल चाहता है, जो विधिविधानों से नहीं आता। योगः कर्मसु कौशलम् को हम धर्मः कर्मसु कौशलम् कहें तो बात नहीं बिगड़ेगी। योग निष्काम कर्म का कौशल है, धर्म भी वही है : निष्काम भाव के बिना धर्म की बात ही वृथा है।

तो कृष्ण के लिए धर्म प्रयोग की बात है और प्रयोग एक कला है। उसका प्रयोग कौशल चाहता है, और सार्थक कौशल प्रतिभा का ही कर्म है। प्रतिभा का मर्म यही है : नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिः प्रतिभा। गांधी में धर्म की अपनी सी विलक्षण प्रतिभा थी।

जिस प्रसंग की बात मैं कर रहा हूँ वहां कृष्ण सत्य को—वचन के सत्य को—एक व्यापकतर आधार देते हैं : सत्य घटित हुआ या नहीं हुआ इसकी बात करते हैं और कहते हैं कि इसकी एक गहरी तुला है। धर्म धारण करता है और धर्म की आत्मा है अवध और प्रभव। अवध अहिंसा का ही दूसरा नाम है। 'प्रभव' अभ्युदय है—गांधीजी के 'सर्वोदय' की कोटि में आता है। देखने की बात है कि कृष्ण यहां अवध कहते हैं, अहिंसा नहीं। क्यों नहीं?

यहां बुद्ध को लाना चाहता हूं, और प्रवृत्ति, निवृत्ति, धर्म के इन दो भेदों को। बुद्ध भी धर्म की बात करते हैं। पर उनका धर्म निर्वाण/मोक्ष की ओर ले जाने वाला मार्ग है, जिसकी एक आधारभूत शर्त है व्यवहार से—लोक से—अपने-आप को हटा लेना। अहिंसा का सम्बन्ध इसी निवृत्ति-धर्म से था, जो कि महावीर में बुद्ध से अधिक स्फुट है। बुद्ध और महावीर दोनों निवृत्ति-मार्गी थे।

कृष्ण जब अवध की बात करते हैं तो उसे निवृत्ति-मार्गी अहिंसा से अलग करके देखना चाहते हैं, इसीलिए साथ ही प्रभव या अभ्युदय की बात करते हैं—धर्म कृष्ण के लिए धारक है, तारक नहीं। कृष्ण प्रवृत्तिमार्गी थे, निवृत्तिमार्गी नहीं। गांधी की अहिंसा भी प्रवृत्ति-मार्गी थी। पुराने विचार के परिप्रेक्ष्य में देखें तो एक और शब्द यहां लाना पड़ेगा : आनृशंस्य।

अहिंसा का आदर्श कम से कम भारत में तो पुराना है। उतना ही पुराना जितना प्रवृत्ति-निवृत्ति का संघर्ष। जो गांधी में भी था—वैसे ही जैसे युधिष्ठिर और कृष्ण में था; अपनी अपनी तरह से। भारत की विशिष्टता है यह संघर्ष, जो अब भी हमारा स्वभाव सा है।

पर भारत में एक और भी धारा पुरानी है, और इसी धारा की हम बात कर रहे हैं : निवृत्ति के परमार्थ को प्रवृत्ति में उतार लाने का पुरुषार्थ। अहिंसा परमो धर्मः का मन्त्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसी धरती पर उभरा है। क्योंकि अहिंसा को जब परम धर्म कहा जाता है तब धर्म को निर्वाण के मार्ग के रूप में नहीं, अपने आप में इतिकर्त्तव्यता का आधार माना जाता है। गांधी भी अहिंसा को इसी अर्थ में लेते हैं।

पर प्रश्न उठता है—और यह भी पुराना प्रश्न है : क्या विशुद्ध अहिंसा प्रवृत्ति में संभव भी है? प्रश्न को यों भी रखा जाता है : क्या गृहस्थ सचमुच अहिंसा कर सकता है? गांधी जी के मन में भी प्रश्न था। कहते हैं और ग्लानि के साथ कहते हैं—कि वे सांप-चूहे को अपने आश्रम में भी मारने देते हैं। दूसरा उपाय नहीं।

तभी अहिंसा के आदर्श का एक पुराना ही प्रवृत्ति-रूप भी है, जिसे महाभारत में आनृशंस्य कहा गया है—इसे अवध और प्रभव का सम्पुट कह सकते हैं। धर्म क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने एक जगह कहा है : आनृशंस्यः परमो धर्मः। आनशंस्य, परस्पर-भाव का, परार्थ-भाव का, करुणा और मैत्री का धर्म है। यों प्रवृत्ति में धर्म का सार है। गांधीजी की अहिंसा आनृशंस्य ही है।

पर एक बड़ा अन्तर है और यही गांधीजी का वैशिष्ट्य भी है। आनृशंस्य और अहिंसा के भेद को आँकने के कई रास्ते हो सकते हैं। एक पहलू व्यष्टिगत और समष्टिगत धर्म के भेद को लेकर हो सकता है। व्यष्टिगत स्तर पर आनृशंस्य अहिंसा की प्रवृत्ति में निहित परस्पर-भाव है, करुणा, मैत्री। पर आनृशंस्य समष्टिगत धर्म भी है : अहिंसा और आनृशंस्य में एक बड़ा भेद यही है कि अहिंसा प्रधानतः व्यष्टिगत धर्म है जबकि आनृशंस्य समष्टि-धर्म भी है : इसको राजा का धर्म कहा भी गया है। और यहाँ अहिंसा और आनृशंस्य में एक आधारगत अन्तर उभर आता है। अन्तर को धर्म और नीति का अविच्छेद्य अन्तर भी कह सकते हैं। अन्तर है समष्टि के स्तर पर धर्म में दण्ड की—हिंसा की— स्वीकृति। गांधी ने इसी को मिटाने की चेष्टा की।

मनुष्य की स्थिति में ही एक विचित्र वैषम्य है। विशेषकर समष्टियों के स्तर पर। 'राष्ट्रों के स्तर पर। किसी विशेष समष्टि के अन्तर्गत अवध और प्रभव की साधना की जा सकती है। समष्टि के भीतर धर्म की बात हो सकती है। पर समष्टियों के बीच—और समष्टि का परिनिष्ठित रूप राष्ट्र होता है—इसलिए यों कहें कि राष्ट्रों के बीच—धर्म की नहीं नीति की ही बात व्यवहार की मूल बात होती है।

धर्म और नीति का भेद यों कर सकते हैं : धर्म में हर कर्म अपने आप में उचित होता है, अपने आप में करणीय, अहेतुक, निष्प्रयोजन करणीय। अगर यह नहीं हो तो वह धर्म नहीं होगा। हर कर्म अपने आप में उपेय होता है। परार्थ-भाव और परस्पर-भाव में स्थित होने के कारण उसमें सहज अहेतुकी भाव होता है, उसका उद्देश्य उसके परे नहीं होता, उसीमें निष्ठ होता है क्योंकि परस्पर-भाव मनुष्य का स्वरूप है। नीति में उलटा होता है : नीति उपाय है, किसी उपेय की प्राप्ति का उपाय, उपेय कुछ भी हो। नीति का कौशल उपाय का कौशल है। 'नीति' शब्द का प्रयोग विशेषकर राजनीति के लिए होता है। और उसीकी बात हम यहां करना चाहते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

राजनीति का एक नाम दण्डनीति भी है। दण्ड धर्म का उल्टा है : तभी दण्डनीति में राष्ट्रों के परस्पर-व्यवहार को साम दाम दण्ड भेद इन धारणाओं में आँका गया है। इनमें किसी में भी धर्म का परस्पर-भाव नहीं है। दण्ड में शक्ति-प्रयोग का प्राधान्य होता है। पर साम दान दण्ड भेद इन सभी को हम दण्ड कह सकते हैं—ये अलगाव के आधार पर टिके हैं। समष्टियां, जहां तक वे राष्ट्र जैसी होती हैं, उनका परस्पर व्यवहार साम दान दण्ड भेद को ही आधार मानता है। मनुष्य के समष्टि-स्वरूप में ही परस्पर-भाव का यह वैषम्य उभरता दीखता है।

आनृशंस्य के प्राचीन आदर्श में दण्ड के प्रति प्रवृत्ति यह थी कि युद्ध को स्वीकार कर लिया जाये, पर स्वीकार करते हुए भी उसकी नृशंसता पर अंकुश लगाने की चेष्टा की जाये। यहाँ युधिष्ठिर और कृष्ण की युद्ध के प्रति दृष्टि को सामने रखना चाहता हूं। **महाभारत** का एक और प्रसंग है। जिस प्रसंग की अभी पहले चर्चा की थी, वह युद्ध के बीच का प्रसंग था। युद्ध के ठीक पहले का एक प्रसंग यहां लेना चाहता हूं। धृतराष्ट्र संजय को पाण्डव-शिविर में भेजते हैं, इस संदेश के साथ कि पाण्डव धर्मात्मा हैं दुर्योधन नहीं है, पर धर्मात्मा होने के नाते पाण्डवों का धर्म है कि वे अपनी ओर से युद्ध-विरत हो जायें, चाहे इसके लिए उन्हें सब कुछ खोकर भिखारी ही क्यों न हो जाना पड़े। यही धर्म की मांग है। यह प्रस्ताव युधिष्ठिर और कृष्ण दोनों को ही बड़ा अटपटा, बेतुका—विषम—लगा। धृतराष्ट्र का मनोभव यही था कि अब अधर्मशील से तो क्या कहा जाये? उसका क्या किया जाये? उसका तो स्वभाव ही अधर्म और अन्याय करना है—वह स्वार्थ से डिग नहीं सकता। पर जो धर्मशील है, जिसके स्वभाव में परार्थ-भाव है, उसको भी अपने स्वभाव से नहीं हटना चाहिये। युद्ध में परार्थ-भाव का मूल-विनाश है, इसलिए धर्म-स्वभाव युधिष्ठिर को युद्ध का त्याग कर देना चाहिये।

उत्तर में युधिष्ठिर कहते हैं कि अधर्म का विरोध नहीं करना धर्म नहीं हो सकता। प्रश्न है युद्ध का, जिसमें हिंसा अनिवार्य है और निर्दोष, धर्मशील का वध भी। आगे जो युधिष्ठिर ने कहा उससे उभरता है कि युधिष्ठिर युद्ध को आपद्धर्म मानते थे। धर्म के अन्तर्गत ही जैसे अपवाद की बात हो—जिसे धर्म के मर्म से विलग मानते हुए भी कभी 'धर्म' के रूप में स्वीकार कर लेना होता है। धर्म की ही रक्षा के लिए।

युद्ध न हो, इसका सबसे अधिक प्रयास कृष्ण ने किया। युद्ध हुआ तो स्वयं लड़े भी नहीं। सारथि ही रहे। यह उनका व्यक्तिगत निर्णय था। इसे ही उन्होंने 'स्व'-धर्म माना। निर्णय का आधार कुछ ऐसा सा लगता है : धर्मशील का कर्त्तव्य है कि युद्ध को होने से यथाशक्ति रोके। पर युद्ध न रुके तो कर्मक्षेत्र को छोड़कर उदासीन हो जाना भी धर्म नहीं हो सकता। पर युद्ध में कैसे भाग लिया जाये? औचित्य को कैसे कर्म में उतारा जाये?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कृष्ण सखा के सारथि हो गये। गांधीजी ने भी युद्ध के विषय में ऐसे विचार जताये हैं, और प्रश्न भी उनके मन में था। उनका उत्तर विदित है, और निर्मम लग सकता है : उन्होंने आक्रमणकारी के आगे भी अहिंसा बरतने का ही उपदेश दिया था। स्वयं तो वे ऐसा करते ही, पर उनके लिए यह धर्म व्यष्टि-धर्म मात्र नहीं था, धर्म का हृदय था, मानवमात्र का धर्म, इसलिए समष्टि का भी धर्म। यह भी नहीं भूलना चाहिये कि अहिंसा को वे दुर्बलता नहीं वीर्य समझते थे। महावीर की तरह ही वे इसे वीर्य का व्रत मानते थे, दुर्बल की हार या समर्पण नहीं। बात कहां तक उचित थी, यह प्रश्न अलग है, पर उनकी धर्म-प्रज्ञा में संगत और अन्तःस्फूर्त थी। उनकी धर्मप्रज्ञा धर्म में वैषम्य स्वीकार नहीं करना चाहती थी। एक प्रश्न और हो सकता है—जो मुझे बहुत दिनों से कचोटता रहा है : गांधीजी ने राजकाज संभालने से क्यों इनकार कर दिया? उनकी जो प्रवृत्ति-मूलक धर्मप्रज्ञा थी, उसमें यह बात विषम लगती है। युधिष्ठिर भी युद्ध की विभीषिका के आगे, पराजय जैसी जय से निर्विषण्ण हो कर संन्यास लेना चाहते थे। पर अनिच्छा से ही सही —धर्म यों भी 'इच्छा' की बात नहीं—उन्होंने प्रवृत्ति-धर्म का वरण किया। राज्य की बागडोर सँभाली। पर गांधी जी ने दंगे और बंटवारे के भैरव के आगे मन के हथियार डाल दिये।

मान लीजिये राज्य करते। तो अहिंसा की क्या युद्धनीति बनाते? कैसी सेना रखते? कैसे हथियार? क्या दूसरे राज्यों के प्रति कोई राज्य पूरी तरह से अहिंसा-नीति अपना भी सकता है? समष्टि-धर्म का परम आधार राज्य है। हमारे यहां भी यही माना गया है। पर समष्टियां एक नहीं होतीं। वैविध्य मानव-व्यष्टि का ही नहीं मानव-समष्टि का भी सहज गुण है। समष्टियों का वैषम्य व्यष्टि-वैषम्य से कहीं गहरा होता है। धर्म के परस्पर-भाव का वैषम्य भी समष्टि के ही स्तर पर अपना उग्रतम रूप दिखाता है—वहां युद्ध को धर्म से हटा रखना असम्भव सा प्रतीत होता है।

युद्ध के विषय में कृष्ण का मत युधिष्ठिर से भिन्न था। कृष्ण राजा के लिए युद्ध को आवश्यक मानते थे। आवश्यक ही नहीं 'धर्म्य' मानते थे। भारतीय राजनैतिक चिन्तन की—जिसे दण्डनीति भी कहते थे—उसकी यह बद्धमूल धारणा है कि राजधर्म की धरती ही एक ऐसे वैषम्य पर स्थित है जिसे छोड़ दिया जाये तो राज्य के पाँव नहीं टिकेंगे, और राज्य नहीं रहेगा तो धर्म भी डिग जायेगा : राजा को कहा गया है कि अपने राज्य में न्याय साधे, सबका अभ्युदय और उचित परस्पर-भाव साधे, लेकिन दूसरे राज्य के प्रति दण्ड बरते। दण्ड ही नहीं साम दान और भेद भी। मनु की हम बात कर आये हैं। राजधर्म का उपदेश देते हुए आरम्भ में ही मनु कहते हैं : स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्यादृमृशदण्डश्च शत्रुषु—राजा को चाहिये कि अपने राष्ट्र में न्याय बरते, पर शत्रु के साथ जितना हो सके उतना दण्ड (मनुस्मृति 8, 32)। हिंसा, वध ये दण्ड के अभिन्न अंग हैं। मनु के यहां दण्ड

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की सहज स्वीकृति है : कई श्लोकों में दण्ड की स्तुति करते हुए वे दण्ड को धर्म का सहोदर मानते हैं (**मनुस्मृति** 8, 14)। सहोदर ही नहीं, धर्म-स्वरूप भी कह देते हैं : दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः (**मनुस्मृति** 8, 18)। पर कृष्ण के लिए धर्म के मर्म में अवध था, वध नहीं। फिर भी युद्ध को वे राजधर्म के लिए अनिवार्य मानते थे। और युद्ध न रोका जा सके तो धर्म-युद्ध को राजा का कर्त्तव्य मानते थे। उनके वचनों का उद्धरण यहां नहीं दूंगा, **धर्म-संकट** में दे चुका हूं—और उसकी यहां वैसी आवश्यकता भी नहीं है। युद्ध राजा के लिए उसका 'सत्य' है—सत्यधर्म। इसका भी उचित समय पर पालन धर्म की कोटि में ही आता है। इसका न्याय से सम्बन्ध है। न्याय के लिए दण्ड का प्रयोग उचित ठहर ही सकता है। इसीलिए अवध और प्रभव को धर्म का मर्म मानते हुए भी कृष्ण युद्ध के 'सत्य' को भी धर्म कहते हैं। कृष्ण के लिए धर्मज्ञ होना नियम का पालन नहीं प्रज्ञा का ऐसा कौशल था जिसके गर्भ में आनृशंस्य की लौ हो। पर धर्मज्ञ होना उनके लिए धर्मविभागज्ञ होना भी था। धर्म एक नहीं अनेक हैं, भिन्न ही नहीं विषम भी हैं। धर्मविभागज्ञ वह है जिसकी प्रज्ञा देश काल पात्र को देख कर धर्म का निर्धारण करती है। युद्ध भी धर्म हो जा सकता है। इस बात को यों भी देख सकते हैं : धर्मविभागज्ञ होने का यह भी अर्थ है कि व्यष्टि-धर्म और समष्टि-धर्म में हम अन्तर करें। व्यष्टि के लिए आनृशंस्य ही परम-धर्म है—अवध और प्रभव। पर समष्टि-धर्म—जिसके केन्द्र में राजधर्म है—उसके लिए युद्ध भी धर्म का सत्य हो सकता है। मैं समझता हूं कि कृष्ण की धर्म-प्रज्ञा का यह विवरण असमीचीन नहीं है।

पर गांधी जी की धर्मप्रज्ञा को धर्म का यह विभाग स्वीकार्य नहीं था। अहिंसा को वे व्यष्टि-धर्म ही नहीं समष्टि-धर्म भी बनाना चाहते थे। यह उनका बड़प्पन और उनका कर्म-कौशल था कि वे इतने विराट् रूप में ऐसा कर पाये। यही उनकी धर्म-प्रतिभा थी। प्रतिभा का सम्बन्ध शिल्प से इस रूप में भी है कि प्रतिभा उपाय और उपेय दोनों को एक ही में समाहित, अखण्ड दृष्टि से देख लेती है। इसी को आलंकारिकों ने कवि की रस-समाधि कहा है। सृष्ट-रूप—अवयवी, जो बनाया जा रहा है—और उसके साधन-माध्यम, तकनीक, अवयव—कवि के लिए दोनों एक ही प्रयास, एक ही बुद्धि के अंग होते हैं, पृथक्सिद्ध नहीं। धर्मशील की कर्म-प्रज्ञा भी ऐसी ही होती है। ऐसी होती है मानों कर्म में ही धर्म-दृष्टि समोई हुई हो, जो हर प्रयास में उपाय-उपेय को एक में पिरोती चलती है। ऐसे भी धर्मचिन्तक हुए हैं—जैसे कांट—जो धर्म-बुद्धि को व्यवहार के जड़ कार्य-कारणमय जगत् से हटा कर संकल्प के परमार्थ में रखना चाहते हैं। ऐसों के धर्म में कोई कर्म-कौशल नहीं होता—केवल धर्म के तत्त्व और नियम की ही बात होती है। कर्त्तव्य इनके लिए संकल्प की धरती पर ठीक नियम के पालन का जकड़ाव होता है—कर्म-प्रतिभा नहीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रतिभा तो परमार्थ को व्यवहार में उतार लेने का शिल्प होती है। कृष्ण ने धर्म को देखा ही इस रूप में था, और गांधी जी के कर्म में भी यही प्रज्ञा समोई हुई थी।

उनकी उक्तियों में जो इसका प्रकाश होता है वह है उपाय (मीन्स) और उपेय (एण्ड्स) को एक मानना। बार बार वे इसकी चर्चा करते हैं। उपाय-उपेय में अभेद मानें तो कर्म के लिए उपाय ही प्रधान हो जाता है। धर्म उपाय की ओर ही झुक सकता है। धर्म की प्रवृत्ति प्रस्तुत कर्म में ही हो सकती है, उसीके करने में हम स्वतन्त्र हैं—फल तो ओझल रहता है, अपने हाथ भी नहीं रहता—कर्मण्येव अधिकारस्ते, मा फलेषु। यहाँ अधिकार का सारार्थ स्वातन्त्र्य ही है—हम वहीं अधिकारी होते हैं जहां स्वतन्त्र होते हैं, विवेक से काम ले सकते हैं। गांधी जी की प्रतिभा यह थी कि उन्होंने अनुभव किया—साक्षात् किया—कि जब हम विवेक के स्वातन्त्र्य में स्थित होते हैं तो बंध नहीं जाते। विवेक हमें बांध नहीं देता, उलटे कर्म की अपनी सम्भावनाओं के प्रति खोल देता है : स्वाच्छन्द्य देता है, कर्म में नंये उन्मेष के द्वार दिखाता है। यह बात धर्मप्रज्ञ समझते हैं, और ऐसी प्रतिभा बहुतों में होती है। हम देखें तो हम अपने चारों ओर भी इसका प्रकाश पायेंगे। कृष्ण ने यही बात कही थी। यह मनुष्य में सहज है तभी गांधी जी में इसने ऐसा विशेष साधक पाया। हाँ, ऐसे महत् साधक सहज नहीं मिलते।

उपाय में ही धर्म का औचित्य है, उपेय में नहीं : यह बात बहुत छोटी सी लग सकती है। बड़ा प्रकट सा सत्य लग सकता है, जो शायद कहने की अपेक्षा ही नहीं रखता। धर्म और नीति का अन्तर करते हुए हमने ऊपर कहा कि कर्म की इतिकर्त्तव्यता जब कर्म में ही निहित होती है—दूसरे शब्दों में जब कर्म अहेतुक होता है—तब वह धर्म की कोटि में आता है। पर जब कर्म की इतिकर्त्तव्यता किसी और फल या लक्ष्य की ओर उन्मुख होती है—जब उसका कोई अपने से अलग हेतु होता है—तब वह नीति की कोटि में आता है। यह बात भी कोई बड़ी बात नहीं है, स्वतः सिद्ध सी लगती है।

पर कहना न होगा बात कहने-सुनने में ही सहज है, करने में नहीं। व्यष्टि के अपने कर्म में यह फिर भी अपेक्षाकृत सहज सही, समष्टि-निष्ठ कर्म में, विशेष कर जहां दूसरी समष्टि का विरोध करना हो, वहां इसके स्वरूप की पकड़ टेढ़ी खीर हो जाती है। प्रखर प्रतिभा की मांग करती है। फिर यह भी सोचिये कि जिसे 'आधुनिक' कहते हैं, उस काल में कर्म-दृष्टि की आधुनिकता ही यही रही है कि समष्टि-कर्म का स्वरूप ही समग्रतः बहिर्मुख और बहिरंग हो गया है। तात्पर्य यह कि समष्टि-कर्म अपने स्वरूप और प्रयोज़न को कर्म में नहीं, कर्म के बाहर फल में देखता है—इसलिए 'बहिर्मुख' है। यही नहीं, कर्म जो परिवर्तन साधना चाहता है वह बाहर का परिवर्तन है—मनुष्य जिन ढांचों में, जिन संस्थाओं में रहता है, जिस राज्य-समाज-कानून-व्यवस्था में जीता है वह बदल जाये तो मनुष्य बदल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जायेगा, क्योंकि मनुष्य है ही यही। यही आधुनिक मनीषा है। इसीकी ओर संकेत मैं 'बहिरंग' शब्द से कर रहा हूं। आज के किसी भी 'प्रभव' या 'सर्वोदय' सम्बन्धी 'वाद' को लें, मार्क्सवाद या पूंजीवाद, जो कि आज के दो प्रधान वाद हैं दोनों कितने ही परस्पर भिन्न और परस्पर-विरोधी क्यों न हों, दोनों 'बहिरंग' हैं। साम्राज्यवाद को ही लें। उसकी निंदा सहज है, जो राजा रहे हैं उनमें भी; प्रजा की तो बात ही क्या। पर उसकी एक प्रच्छन्न प्रशंसा होती है, जिसके राजा-प्रजा दोनों वैतालिक हैं। दोनों यह मानते हैं कि 'आधुनिकता', जो कि सभ्यता का एक नया और उन्नत—अधिक 'प्रभवशील'—ढांचा है, वह पश्चिम से ही आया है—और कई जगह पश्चिम उसे 'ले' भी गया है। यह 'ले जाना' अगर हिंसा और पराधीनता के माध्यम से हुआ है तो इस कर्म को अपने आप में नहीं, उसके फल से जाँचना चाहिये—फल आधुनिकता है, इतिहास की यात्रा का एक उत्तुंग शिखर! ऐसी ही इतिहास-दृष्टि से मार्क्सवाद और पूंजीवाद भी अनुप्राणित हैं। यह दृष्टि मनुष्य को बहिरंग-प्रधान मानती है, उसके स्वरूप को उसके भीतर नहीं उसकी संस्थाओं के ढांचे में रखती है। इसलिए कर्म का उद्देश्य वह ढांचा ही होता है, और समष्टि-कर्म की परख अपने आप में नहीं, अपने बाहर देखी जाती है। समष्टि-कर्म को यों प्रधानतः 'नीति' ही माना जाता है, धर्म नहीं। कर्म यहां बाहर से भीतर की ओर मुड़ना चाहता है।

लेकिन धर्म में कर्म भीतर से बाहर की ओर झुकता है—संकल्प की 'अनु'-कृति होता है। अन्तरंग को बहिरंग में रूप देने की चेष्टा। व्यष्टि-कर्म में तो यह स्पष्ट है। गांधीजी समष्टि-कर्म में भी यही अन्तरंग-भाव साधने की दुःसाध्य साधना में रत रहे। वह भी ऐसे समय जबकि 'युगबोध', आज की हमारे मन-प्राण पर हावी 'आधुनिक' दृष्टि, उनके विपरीत थी। अचंभा नहीं कि पश्चिम में, और हमारे यहां के नीतिविदों में भी, उनको 'पागल' या 'अजूबा' समझा जाता था—या ढोंगी-पाखंडी। आज हम गांधीजी के समय से भी अधिक सहज-भाव से आधुनिक हो गये हैं—आज पाण्डुरंग शास्त्री जैसे लोगों की जल्दी से हम चर्चा ही नहीं करते; जो गांधीजी की ही तरह अन्तरंग-भाव से विराट् समष्टि-कर्म साध रहे हैं।

पर एक बात फिर भी है। धर्म के लिए उपाय और उपेय में चाहे एक तरह का अभेद हो, दोनों को एक-अद्वय तो नहीं माना जा सकता। कर्म का स्वरूप ही फलमय होता है—उसका एक लक्ष्य, एक उद्देश्य होता है—और फल का अर्थ ही है परिवर्तन साधना। वह कर्म में नहीं कर्म के परे ही हो सकता है। गांधी जी ने इस पर सोचा था। गहरे विचारक थे—युक्ति-तर्क-विमर्श की बारीकियों में न जाते हों, बात की तह की ओर जाते थे।

गांधीजी के लिए अहिंसा उपाय था और 'सत्य' उपेय। दोनों में एक तरह के भेदाभेद की कल्पना की जा सकती है—हालांकि गांधीजी ने ऐसे किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। पर इस तरह की बात ज़रूर ही है। 'सत्य' गांधी जी के लिए बड़ा अर्थ-गंभीर शब्द था; अर्थ-बहुल भी। 'सत्य' मनुष्य का स्वरूप है—उसका साध्य-स्वरूप : ईश्वर, ब्रह्म, जो मनुष्य से अभिन्न है। सत्य सर्वोदय भी है—मनुष्य के स्वरूप का सहज परस्पर-भाव; और इस अर्थ में सत्य स्वयं धर्म है। और तभी अहिंसा भी, जो मनुष्य-स्वरूप के परस्पर-भाव में निहित है। गांधीजी के लिए सत्य और उनके उद्दिष्ट 'रामराज्य' और उस पर आधारित समाज का क्या सम्बन्ध था इस पर उन्होंने कोई ऐसा विमर्श किया हो जैसा मैं यहां संक्षेप में कर रहा हूँ, मुझे पता नहीं। पर उनकी बातों से मुझे यही उभरता दिखता है। इसीलिए वे अपने कर्म और अपनी अध्यात्म-साधना दोनों को सत्य के प्रयोग कहते थे। 'सत्य' का अर्थ उनके लिए उस अर्थ से बहुत भिन्न है जो कृष्ण ने किया लगता है। कृष्ण के लिए सत्य का सम्बन्ध 'न्याय' से था। 'न्याय' में परस्पर-भाव का विच्छेद भी निहित है, इसीलिए न्याय का सम्बन्ध दण्ड से है—युद्ध से, हिंसा से। गांधी जी के कर्म का आदर्श था—कुछ लोग शायद 'आदर्श' नहीं कहें, 'स्वप्न' कहें—आदर्श यह था कि अहिंसा से परस्पर-भाव दृढ़ होगा और रामराज्य की ओर बढ़ सकेगा। परस्पर-भाव को ही मनुष्य के स्वभाव का आधार मानने के कारण उनकी आदर्श समाज-रचना में छोटे-छोटे समूहों की इकाइयों को श्रेयस् या 'प्रभव'-शील माना गया है। इनमें दण्ड की आवश्यकता का क्षीण हो जाना अधिक सुगम है। यह मार्ग गांधीजी के लिये नीति को धर्म में समेट लेने की साधना का मार्ग था।

मेरी बात का यहीं अन्त होता है। पर अन्त में उस चर्चा-गोष्ठी की चर्चा करना चाहता हूँ जहां मैंने गांधीजी पर कुछ कहने का दुस्साहस किया था—जब कि मैं उनका अध्येता या विद्यार्थी नहीं हूं। पर गोष्ठी जिन्होंने बुलाई थी, उन्होंने मेरा **धर्म-संकट** लेख देखा था और मुझसे कहा गया गांधी जी के कर्म को धर्म और नीति इन दो धारणाओं के आधार पर आँक कर देखूं। जैसा मैंने ऊपर कहने की चेष्टा की है मैं समझता हूं कि गांधी जी के लिए नीति को धर्म से अलग करना अधर्म का ही आह्वान हो सकता था।

पर चर्चा-गोष्ठी में मैंने पाया कि ऐसे कई कर्म-चिन्तक और कर्मशील लोग हैं जो यह मानते हैं कि गांधीजी की अहिंसा को उनके अभिप्रेत सत्य से अलग कर लेना ही उचित है। वे अहिंसा को नीति का रूप दे देना चाहते हैं—कर्म का एक उपाय, जिसको अधिक से अधिक मांजा-संवारा जा सकता है, जिसे नये नये ऐसे प्रभावशाली रूप दिये जा सकते हैं जो गांधीजी नहीं दे पाये थे। पर इस उपाय का उपयोग क्यों हो?

एक उत्तर बंगाल के सुप्रसिद्ध चिन्तक और अपनी तरह के गांधीवादी अम्लान दत्त ने दिया। उन्होंने कहा कि पिछले इतिहास में इतिहास की एक मांग मार्क्स ने पूरी की थी, पर मार्क्स में हमारे आदर्श भविष्य का मार्ग हिंसा है : पहले हिंसा से विश्व में 'एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

राज्य' की—एक 'प्रोलिटेरियन' राज्य की—स्थापना हो तो फिर वह राज्य अपने आप विशीर्ण हो जायेगा और मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित हो जायेगा। हिंसा भी शायद राज्य के साथ विशीर्ण हो जायेगी—यह कल्पना यहां ऊह्य लगती है। पर अम्लान दत्त के अनुसार मार्क्स के बाद हिंसा ने ऐसा रूप अपनाया जिसकी मार्क्स के समय कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। हिरोशिमा पर ऐटम बम गिरा। और अब यह हाल है कि युद्ध हुआ और बढ़ा तो मानव-जाति के लुप्त हो जाने की आशंका बन गई है। यहीं गांधी इतिहास की नई मांग पूरी करते हुए नया रास्ता दिखाते हैं। मानव-जाति अगर अपने आप को बचाना चाहती है—और युद्ध के बिना मानव-जाति रह नहीं सकती—तो उसको चाहिए अहिंसा के हथियार से युद्ध करे। मैंने अलग से अम्लान बाबू से पूछा कि 'मनुष्य को बचायें क्यों?' उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। बड़े शान्त और मौन स्वभाव के हैं। शायद प्रश्न को उन्होंने अतिप्रश्न समझा हो। गांधी जी होते तो मैं समझता हूं कहते, 'क्योंकि मनुष्य सत्य है।'

एक दूसरा—अम्लान बाबू से भिन्न पर इसी स्वभाव का—उत्तर अमरीका के चिन्तक जीन शार्प ने दिया। हारवार्ड में एक राजनीतिशास्त्र की 'चेयर' है जहां राजनीति में अहिंसा पर पठन-पाठन-रिसर्च होता है। जीन शार्प उस चेयर पर हैं। जीन शार्प ने किसी इतिहास की मांग की तो बात नहीं की पर उन्होंने इस बात पर पूरा ज़ोर दिया कि 'अहिंसा' को गांधीवाद से अलग कर देना चाहिए नहीं तो उसका प्रयोग विश्वजनीन नहीं हो सकता। गांधीजी के जो निजी विश्वास थे, उनकी जो निजी साधना और अध्यात्म था उससे अहिंसा के प्रयोगों को बांधे रखना उसे कुंठित कर देना होगा। गांधी जी स्वयं भी नहीं मानते थे कि अहिंसा का उन्होंने ईजाद किया। अहिंसा पुराना अस्त्र है; गांधी जी उसके एक महान और कुशल प्रयोक्ता थे। उस कौशल को हमें आगे बढ़ाना चाहिये। शार्प का आशय यह था कि अहिंसा एक नीति है और बड़े काम की नीति है और उसका अधिकाधिक और पैने से पैना प्रयोग साधना ही सच्चा गांधीवाद होगा। उनसे पूछा गया कि अहिंसा अगर नीति है तो इसका प्रयोग उचित ही नहीं अनुचित भी हो सकता है—धरने, हड़ताल, अनशन, असहयोग के ये हथियार आज सौ कारणों से प्रयुक्त किये ही जाते हैं। औचित्य-विचार के बिना भी किये जाते हैं—केवल उपाय के रूप में। जीन शार्प साहब का उत्तर यह था कि प्रयोग किसी प्रयोजन से क्यों न हो, अहिंसा हिंसा से अच्छी है। इस पर गांधी क्या कहते, नहीं जानता, पर गांधीजी के लिए सत्य के बिना अहिंसा अहिंसा नहीं हो सकती थी—अहिंसा उनके लिए नीति नहीं थी, जैसाकि अब कुछ लोग समझ रहे हैं। हम गांधीजी के निजी विश्वासों को मानें या न मानें, अहिंसा में अगर किसी सत्य जैसे अन्तरंग का प्रकाश न हो तो धर्म ही कैसे रहेगी?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पादटिप्पणी

1. जातियों की या 'वर्ण-संकर' की उत्पत्ति की बात उठाते हुए ही मनु कहते हैं : ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णाः द्विजातयः। चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रो, नास्ति पञ्चमः॥—"ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण 'द्विज' हैं। चतुर्थ वर्ण की एक ही जाति है (अर्थात् 'कोटि' है) शूद्र। पांचवां कोई वर्ण नहीं होता।" अन्तराल वर्णों को मनु चारों में से किसी वर्ण में रखते हुए भी उन्हें अलग रखने के लिए 'सादृश्य' की बात करते हैं—अन्तराल वर्ण किसी न किसी वर्ण का 'सदृश' होता है, 'वही' नहीं होता हुआ भी 'उस जैसा' होता है, इसलिए 'वह' भी और 'भिन्न' भी। कहते हैं : स्त्रीष्वनन्तर जातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान्। सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान्॥—'द्विज वर्ण का पुरुष अपने से निम्न वर्ण की स्त्री से पुत्र उत्पन्न करे तो वह माता के वर्ण-दोष से दूषित कहलाता है और पिता के सदृश होता है।' संकरोत्पत्ति की यह प्रक्रिया अनुलोम कहलाती है, जिसमें पुरुष उच्च वर्ण का और स्त्री उससे किसी निम्न वर्ण की होती है। स्त्री के निम्न होने के कारण यहां निम्नत्व का कारण मातृ-दोष है। सन्तान पितृ-वर्ण की होती है। पर पिता से निम्नतर। माता जितनी निम्न हो उतना ही निम्न संकर होता है। पितृ-दोष से भी संकर हो सकता है, जब पिता किसी निम्न-वर्ण का हो और स्त्री किसी उच्चतर वर्ण की। यह प्रतिलोम प्रक्रिया है, और अपने आप में ही बुरी मानी जाती है—इससे उत्पन्न संकर वर्ण 'बाह्य' कहलाते हैं। फिर भी जो तीन द्विज वर्ण हैं, उनमें परस्पर प्रतिलोम होने पर भी संकर द्विज ही रहता है। मेधातिथि कहते हैं कि प्रतिलोम-प्रक्रिया के कारण 'बाह्य' होते हुए भी वैश्य और क्षत्रिय का अगर क्षत्रिय और ब्राह्मण से संकर हो तो द्विजत्व बना रहता है, और उपनयन का अधिकार भी बना रहता है—बाह्येष्वपि प्रातिलोम्येन वैश्यक्षत्रियाभ्यां क्षत्रियब्राह्मणयोरुत्पा द्विजत्वं भवति। सति च द्विजत्वे उपनयनं कर्त्तव्यम् (मनुस्मृति 10, 28 पर)। सचमुच बाह्य कहलाने लायक बाह्य, जो कि प्रतिलोम से ही सम्भव है, तब होता है जब पुरुष शूद्र हो और स्त्री उच्चतर जाति की। इस प्रक्रिया से शूद्र से भी निम्न जातियां उपजती हैं। पुरुष-दोष के कारण स्त्री जितनी उच्च जाति की हो संकर उतना ही अधिक बाह्य होता है। इन बाह्यों को ही अन्यत्र अन्त्यज कहा गया है। सच्चा 'अन्त्यज' तब होता है जब ब्राह्मण स्त्री हो और पुरुष शूद्र। इस संकर से चाण्डाल की उत्पत्ति होती है। मेधातिथि के अनुसार प्रतिलोमों में वह अकेला ही अस्पृश्य है : चाण्डाल एकः प्रतिलोमेष्वस्पृश्यः (मनुस्मृति 10, 13 पर मेधातिथि)। अनुलोम-प्रतिलोम प्रक्रिया से मनु के अनुसार प्रत्येक वर्ण में 15 संकर उत्पन्न होते हैं। चार शुद्ध वर्णों को भी गिनकर संख्या हुई चौंसठ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

साहित्य और संस्कृति

गतांक में आरंभ विचारविमर्श के क्रम में

उन्मीलन के जनवरी, 1997 अंक में 'साहित्य और संस्कृति' शीर्षक मेरा लेख, उस पर हुई गोष्ठी का विवरण और उस लेख पर डॉ॰ मुकुंद लाठ, डॉ॰ रमेशचन्द्र शाह तथा प्रोफेसर सिद्धेश्वर प्रसाद की प्रतिक्रियाएँ प्रकाशित हुई थीं। यहां हम उन प्रतिक्रियाओं में हमारे प्रतिपादन पर उठायी गई आपत्तियों पर अपने स्पष्टीकरण देने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु उससे पूर्व एक भ्रांति का निराकरण करना चाहेंगे, कि हमने श्री अरविन्द के महाकाव्य **सावित्री** को काव्य नहीं माना। जब हम **श्रीमद्भगवद्गीता** तक को काव्य कह रहे हैं, जो बहुत कुछ प्रतिपादनात्मक विधा में लिखी गई है, तब **सावित्री** को कैसे काव्य नहीं कहेंगे जो पूरी रूपकात्मक-लाक्षणिक और व्यंजनात्मक विधा में ही लिखी गई है? गोष्ठी में हमने **सावित्री** को सामान्य काव्यों से भिन्न चिद्भूमि पर से लिखी गई कहा था।

अब हम क्रमशः तीन प्रतिक्रियाओं पर अपने स्पष्टीकरण देंगे।

डॉ॰ मुकुंद लाठ

मुकुंद जी ने अपने लेख में पहले चेतना के स्वरूप और सृजन के स्वरूप विषयक मेरे मत को प्रस्तुत कर उससे साहित्य विषयक मेरे प्रतिपादन की असमंजसता देखी है। वे कहते हैं—"चेतना का सृजन-व्यापार यदि प्रवर्त्तन-मुख है और आत्मोन्मुख निवर्त्तन केवल प्रवर्त्तन की सार्थकता को प्रमाणित करने के लिए ही है, तो साहित्य का पुरुषार्थ मोक्ष को कहना असमंजस, विसंगत-सा लगता है। प्रवर्त्तना, चाहे वह साहित्य की दिशा में हो, या चेतना की किसी भी दिशा में हो, जगद्भाव मात्र में कहिये, वह सार्थकता की खोज करे और इसके लिए अपनी ओर निवर्त्तित हो, यह तो समझ में आता है, पर वह प्रवर्त्तन में भी निवर्त्तन ही साधे, यह समझ में नहीं आता।"(50) किन्तु हमने अपने विस्तृत लेखन में यही दिखाने का प्रयत्न किया है कि सृजन वास्तव में प्रवर्त्तन में निवर्त्तन साधने में ही है। **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** के 'सृजन और सत्य' अध्याय में हमने लिखा है "व्यवहितत्व के रूप में जबकि आत्मा में अपने से अपनी दूरी और न्यूनता घटित होती है, सर्जन के रूप में अर्थ-लोकों का आविर्भाव होता है, जिसके द्वारा आत्मा इस दूरी को भरने का प्रयत्न करता है।" (पृ. 26) इसी प्रकार अन्यत्र लिखा है—"सत्य का अर्थ है स्वरूप के अनुरूप होना, स्वरूप से अभ्रष्ट होना, दोष-रहित होना, अपने धर्म में प्रतिष्ठित होना आदि। - सृजनात्मकता चेतना में इसी सत्य-दृष्टि का उन्मेष है।" (इलाहाबाद संग्रहालय द्वारा प्रकाशित और अनंतर **साहित्य-चिन्तन और युग-चिन्तन** पुस्तक में संकलित लेख 'सृजन और परिवेश' से। द्रष्टव्य है कि दार्शनिकों ने साधारणतः 'सत्य' की परिभाषा "कथन की वस्तुस्थिति से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनुरूपता" अथवा "वाक्य-व्यवस्था की अन्तःसंगति" की है।) इसी प्रकार, "जगत् के आविर्भाव और उसके व्यापार को भी चित् का अर्थोन्मेष ही कहा जा सकता है। किन्तु इस अर्थोन्मेष मात्र से भी चेतना मुक्त नहीं हो जाती, इसके लिए उसका अपनी अर्थ-प्रवर्त्तकता का प्रेक्षक और प्रापक होना भी आवश्यक होता है, उसका कवि, मनीषी और अर्थों का उनके याथातथ्य में प्रतिष्ठापक होना भी आवश्यक होता है। ऐसा होने पर जगद्व्यापार भी चेतना का मोक्ष-व्यापार कहा जायगा।" (**मूल्यतत्त्व-मीमांसा**, पृ. 180) इन सब उद्धरणों में प्रवर्त्तन में निवर्त्तन साधने का ही निरूपण किया गया है। अब जहां तक साहित्य के पुरुषार्थ होने का प्रश्न है, इसके सम्बन्ध में मैंने पिछले अंक में प्रकाशित 'संस्कृति और साहित्य' लेख में लिखा है—"इन संस्कृति-कर्मियों में साहित्यिक की स्थिति अन्यों से भिन्न होती है। इसका विषय भोगात्मक चित्त, और अधिकांश में भोगात्मक संसार ही होता है। कथा-साहित्य मनुष्य के सुख-दुःख, कलह-क्लेश, प्रेम-द्वेष, मिलन-विरह का अन्तर्विमर्श प्रस्तुत करता है और गीत, कविता और खंड-काव्य अधिकांशतः कवि के मनोभावों का।" (पृ. 32-33) इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्म या मोक्ष साहित्य के पुरुषार्थ कभी होते ही नहीं। वाल्मीकि, तुलसी, महाभारतकार, कबीर आदि अनेक कवियों के काव्यों में धर्म या मोक्ष ही पुरुषार्थ हैं, **सावित्री** में मोक्ष के साक्षात्कार की ही अभिव्यक्ति है, किन्तु काव्य (कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक) की मुख्य धारा लोकजीवन के अर्थों को ही पर्यन्तता मान कर प्रवर्तित होती है। पुरुषार्थों की पदावली में कहें तो, काम और अर्थ-मूलक पुरुषार्थ ही इसके अन्वेष्य रहते हैं और इस अन्वेषण से साहित्य के रूप में इनकी उत्कृष्टता को कोई बट्टा नहीं लगता। इसका प्रमाण यह है कि शृंगार-शिरोमणी कालिदास वाल्मीकि और तुलसी से बड़े कवि माने जाते हैं। किन्तु हमने काव्य में चित्तभूमियों के स्तर-भेद की बात भी की है और इस स्तर-भेद को काव्य की उत्कृष्टता के प्रतिमान के रूप में प्रासंगिक कहा है। किन्तु यह एक दूसरा प्रतिमान है जो प्रथम के अतिरिक्त और उसके अनंतर ही प्रासंगिक होता है।

अब अन्त में एक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण देना चाहूंगा। मैंने सब अर्थों की निरर्थकता के बोध-जन्य अर्थ-विलयन की परमपुरुषार्थता को अपने विचार के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है और तब उससे उत्पन्न समस्या को समस्या के रूप में ही छोड़ दिया है। मैं स्वयं इस दृष्टि को इस रूप में स्वीकार नहीं करता हूँ, इसका संकेत इस लेख में भी पर्याप्त स्पष्ट है। मैंने अर्थों में अतिक्रमणात्मकता को पुरुषार्थ कहा है और इसको **अर्थों के उन्मेषक मूल में प्रतिष्ठा, उस मूल का द्रष्टृत्व** कहा है। इस दृष्टि की व्याख्या मेरी **पुस्तक मूल्यतत्त्व-मीमांसा** में अनेक प्रसंगों में, तथा **नागार्जुनकृत मध्यमक शास्त्र और विग्रहव्यावर्तनी : युक्ति-परीक्षा और सिद्धान्त-विमर्श** के 'प्रपंच, निष्प्रपंच और प्रपंचातीत' अध्याय में भी हुई है। इस अन्तिम अध्याय में मोक्ष या निर्वाण के इस 'सर्व-अर्थ-लयकारी' रूप को अस्वीकार करते हुए सब अर्थों का संग्रह करते हुए उनसे अतीत होने की दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार मोक्ष-विषयक यह सर्वलयकारी दृष्टि मेरी दृष्टि नहीं है। वास्तव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में भारतीय संस्कृति की दृष्टि भी ठीक यही दृष्टि है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, यद्यपि कुछ दार्शनिकों और साधकों ने इसे इसी रूप में समझा है। किन्तु बुद्ध के निर्माण-काय की कल्पना और शिव द्वारा काम-दहन के अनंतर काम को जीवित कर अपने पर शर-प्रयोग की अनुमति देने की कल्पना मोक्ष विषयक उस दृष्टि का ही समर्थन करती है जिसे मैंने युक्त-दृष्टि कहा है, विलयन-दृष्टि का नहीं।

डॉ॰ रमेशचंद्र शाह

रमेश जी का लेख वैदुष्य और वैदग्ध्य से महिम है और एक सुन्दर साहित्यिक कृति है। इस लेख के इन्हीं गुणों में इसकी कमज़ोरियां भी निहित हैं, जैसाकि हम इसमें उठायी गई आपत्तियों पर विचार के क्रम में देखेंगे।

रमेश जी की मुख्य आपत्ति यह है कि मैंने साहित्य को संस्कृति का अंग कहा है, जो उनके अनुसार प्राचीन भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में तो बहुत कुछ सही है किन्तु पाश्चात्य साहित्य के सम्बन्ध में सही नहीं है। पाश्चात्य साहित्य उनके अनुसार, पाश्चात्य साहित्य के मर्मज्ञ आलोचक ट्रिलिंग के प्रमाण पर, संस्कृति से कहीं आगे और ऊपर (बियांड) जाता है। (पृ. 53-54) उनके इस कथन की अयुक्तता दिखाने से पहले मैं उन्हीं के द्वारा अन्यत्र उद्धृत इसके ठीक विपरीत मत का प्रतिपादक कथन उद्धृत करना चाहूंगा। यह मत टी. एस. इलियट का है। देखें—"बड़ा कवि अपने युग की वैचारिक संपदा का, वैचारिक उथल-पुथल का, संवेगात्मक समतुल्य (इमोश्नल इक्विवेलेंट) खड़ा कर देता है।" ('प्रसाद और छायावाद की प्रासंगिकता' लेख, पूर्वग्रह मार्च-अप्रैल, 1989) इस दूसरे मत की अयुक्तता मैंने अन्यत्र (द्रष्टव्य 'युग-चिन्तन और साहित्य-चिन्तन', पूर्वग्रह 1990 का कोई अंक) एक दूसरा परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करते हुए दिखायी थी। जहां तक पहले मत का सम्बन्ध है, मुझे नहीं पता कि ट्रिलिंग ने यह बताया है या नहीं कि वह संस्कृति किसे समझता है जिसेकि साहित्य अतिलंघनीय पाता है, किन्तु रमेश जी ने तो यह नहीं ही बताया है। ट्रिलिंग और रमेश जी की सारी बात से कुछ ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उनके अनुसार संस्कृति विधि-निषेधों की एक जड़ व्यवस्था का नाम है। किन्तु मैंने संस्कृति को अर्थान्वेषण की एक सजीव परम्परा कहा है। पाश्चात्य संस्कृति को अवश्य रमेश जी ने प्रसंगोपात्त रूप में 'अवधारणात्मक वशीकरण की अन्वेषी' के रूप में परिभाषित किया है किन्तु यह 'संस्कृति' की परिभाषा नहीं है, इसे संस्कृति विशेष का लक्षण कहा जा सकता है। किन्तु 'अवधारणात्मक वशीकरण' का अर्थ क्या है, यह पाश्चात्य संस्कृति का एक अवच्छेदक है या कि उसका सर्वस्व है, और कि इसमें दोष क्या है, जैसाकि उनके कहने के ढंग से लगता है कि वे इसे दोष मानते हैं, यह सब भी उन्होंने नहीं बताया। किन्तु इस बात को यहां छोड़ते हुए, यहां यह जिज्ञास्य है कि यदि साहित्य संस्कृति का अंग नहीं है तो संगीत, चित्र और मूर्त्ति कलाएँ भी संस्कृति की अंग नहीं होनी चाहिएँ। तब क्या दर्शन और धर्म संस्कृति के अंग हैं? यदि हों, तो ईसाई धर्म तो अवधारणा-प्रधान नहीं है, आस्था-प्रधान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है, अवधारणा द्वारा वशीकरण की बात तो दूर रही। दर्शन अवश्य अवधारणा-मूलक और अवधारणाओं का विवेचक ही होता है, किन्तु पश्चिम के किस दर्शन को आप वशीकरण के लिए कमर कसने वाला देखते हैं? स्पिनोज़ा पत्ते के हिलने को भी ईश्वर की इच्छा के अधीन देखता है, डेकार्ट आत्मा के अस्तित्व को अव्यवहित साक्षात्कार का विषय मानता है और केवल उसे ही ज्ञान का विषय मानता है, या फिर ईश्वर को असंदिग्ध अनुमान का विषय मानता है क्योंकि "मेरी सत्ता की अपूर्णता उसकी पूर्णता को सिद्ध करती है," और बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व-विषयक ज्ञान को वह ईश्वर की सदयता के भरोसे छोड़ता है कि वह हमें धोखा नहीं दे सकता। कांट या तो उस आत्मा की सत्ता ही स्वीकार करता है जो पूर्णतः निष्काम और शिव है या फिर उस बाह्य स्वलक्षण वस्तु की जो अवधारणाओं के लिए उतनी ही अगम्य है जितना वेदांत के लिए ब्रह्म, अनुभववादी दार्शनिक अवधारणाओं को स्वतंत्रतः ज्ञापक मानते ही नहीं, केवल संवेदात्मक विज्ञप्तियों को ही ज्ञापक मानते हैं, और अस्तित्ववादी वैसे ही मनुष्य के तत्त्व को अवधारणा का विषय नहीं मानते क्योंकि वे उसे तत्त्व-शून्य मानते हैं। तो फिर इस 'अवधारणात्मक वशीकरण' के लिए, यदि इसका कुछ अर्थ है तो, उतावला कौन है? प्रकट रूप से पाश्चात्य साहित्य के पाश्चात्य संस्कृति से भेद की बात मुकुंद जी ने भी की है, किन्तु नितांत भिन्न प्रकार से। उनके शब्द हैं—"पश्चिम का साहित्य पश्चिम की मनुष्य-प्राण संस्कृति-श्रद्धा क़ो गहराई से ठेस लगाता रहता है, वहां मनुष्य की धरती ऊपर-नीचे दोनों ओर फैलती दीखती है।" (50) किन्तु वास्तव में यह साहित्य के संस्कृति-बाह्य होने की बात नहीं है, बल्कि सांस्कृतिक परमार्थ-दृष्टि का साहित्य में अनुसरण नहीं होने की बात है। मैंने भी भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में एक प्रकार से यही बात कही है, कि साहित्य अधिकांश में सांस्कृतिक परमार्थ-दृष्टि का अनुसरण नहीं करता। किन्तु इससे साहित्य संस्कृति-भिन्न व्यापार नहीं हो जाता।

तब प्रश्न हो सकता है कि यदि भारतीय संस्कृति में परम पुरुषार्थ मोक्ष ही है तब कम से कम उस काव्य को तो संस्कृति का अंग नहीं ही कहना चाहिए जो काम और अर्थ पुरुषार्थों का अन्वेषी है। इसका समाधान यह है कि सभी अर्थों का पुरुष के योग्य अन्वेषण सांस्कृतिक अन्वेषण ही होता है, ऐसी संस्कृतियां भी हो सकती हैं जिनका मुख्य अभिनिवेश काम-पुरुषार्थ ही हो, जैसे आधुनिक यूरोपीय संस्कृति के लिए परम पुरुषार्थ मनुष्य का ऐहिक जीवन ही है, बहुत कुछ यही चीनी संस्कृति के लिए भी रहा है, किन्तु इससे वे संस्कृतियां असंस्कृतियां नहीं हो जातीं और न संस्कृति की परम पुरुषार्थ विषयक दृष्टि से भिन्न अर्थान्वेषण से साहित्य असांस्कृतिक हो जाता है।

साहित्य की भी वास्तव में विभिन्न विधाएँ हैं जिनमें अन्वेष्य अर्थ कुछ भिन्न रहते हैं। महाकाव्यों में अधिकांश में संस्कृति विशेष द्वारा लक्षित परमार्थ ही अन्वेष्य होता है, खंड काव्य में मुख्यतः काम पुरुषार्थ अन्वेष्य होता है, दोहा, गीत, ग़ज़ल, लघु कविता आदि में मुख्यतः तात्कालिक भावना, कल्पना, ऊह आदि का विमर्श होता है, और उपन्यास तथा नाटक में मुख्यतः मनुष्य के लोक-जीवन का विमर्श होता है। द्रष्टव्य है कि विभिन्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संस्कृतियां जबकि अपने मुख्य अभिनिवेशों या परमार्थ-दृष्टियों से परिभाषित होती हैं, उनमें अन्य सब अर्थ भी अन्वेषित होते हैं, और जो समाज जितना ही सजीव होता है उसमें उतने ही विभिन्न अर्थ उन्मिषित और अन्वेषित होते हैं। परमार्थ को अनभिलाप्य देखने वाली, या वाक् का मूल तत्त्व-साक्षात्कार में देखने वाली भारतीय संस्कृति ने ही वाक् के वैखरी स्तर के उत्कृष्टतम अन्वेषक पाणिनि को भी उत्पन्न किया, मोक्ष को परमार्थ मानते हुए भी आर्यभट और वराहमिहिर उत्पन्न किये, इसी प्रकार लोकान्वेषण और लोक-विजय को लक्षित करने वाली आधुनिक यूरोपीय संस्कृति ने ही उत्कृष्टतम संगीतकार बीथोवन, बाख़ और वेगनर को तथा उत्कृष्टतम चित्रकारों और रोमैंटिक कवियों को भी जन्म दिया। ये सभी अर्थान्वेषण संस्कृति के अंग होते हैं। परमार्थ दृष्टि समाज के व्यक्तित्व को एक सामान्य प्रकारता देती है। यह सामान्य प्रकारता उसके विभिन्न अर्थान्वेषणों और अभिनिवेशों को वैशिष्ट्य देती है।

रमेश जी का एक दूसरा प्रश्न है कि भारतीय संस्कृति से भिन्न पाश्चात्य संस्कृति अपने ऐतिहासिक विकास-क्रम में समूचे विश्व के अवधारणात्मक वशीकरण के लक्ष्य से जितनी प्रेरित है उतनी आत्मान्वेषण या आत्मोपलब्धि के आदर्श से नहीं।" यहां छांदोग्य उपनिषद् (अ. 8) में विरोचन और इंद्र की जिज्ञासाओं के उत्तर में प्रजापति द्वारा दिये गए समाधान स्मरणीय हैं। विरोचन और इन्द्र प्रजापति के पास जाकर पूछते हैं, "भगवन्, आत्मा क्या है?" वे उत्तर देते हैं, "यह जो आँख के भीतर पुरुष दिखायी देता है, वही आत्मा है।" इस उत्तर से दोनों सन्तुष्ट होकर लौट जाते हैं और समझते हैं कि 'देह ही आत्मा है।' किन्तु बाद में विचार करने पर इन्द्र को यह समाधान युक्त नहीं प्रतीत होता और वह प्रजापति के पास फिर लौटता है, किन्तु विरोचन को इसमें कोई सन्देह नहीं होता। तब प्रजापति उसे उत्तर देते हैं कि "जो स्वप्न में दिखायी देता है, वही आत्मा है।" पीछे विचार करने पर इन्द्र इसे भी स्वीकार्य नहीं पाते। तात्पर्य यह कि सब संस्कृतियों का अन्वेष्य तो आत्मा ही होता है, उसी के अर्थ का वे पारायाण करती हैं, यह बात दूसरी है कि वे आत्मा किसे मानती हैं। किन्तु संस्कृतियों की आत्मा या परम पुरुषार्थ विषयक दृष्टियां अन्य अर्थों के अन्वेषणों को निश्शेष नहीं करतीं, यदि ये कभी किसी अर्थ को अनन्वेष्य, उसके अन्वेषण को वर्ज्य निर्धारित करती हैं तो प्रायः ही संघर्ष होता है। दूसरे, स्वयं परम पुरुषार्थ विषयक दृष्टि को अपने को समझने और चरितार्थ करने के लिए अपना विवेचन और व्याख्या करनी होती है और यह व्याख्या ऊहापोह को, प्रश्न-प्रतिप्रश्न को अनिवार्य करती है। उपर्युक्त कथा में इन्द्र अपने से ऊहापोह के बाद ही प्रजापति के उत्तर की अयुक्तता देख पाते हैं और जब वे प्रजापति के पास समाधान के लिए लौटते हैं तो वे उन्हें 32 वर्ष और मनन करने के लिए लौटा देते हैं। यह ऊहापोह समाजों में इस परमपुरुषार्थ विषयक दृष्टि के खंडन और मंडन का रूप लेता है और यह निरन्तर चलता रहता है। इन समाजों का बाह्य संस्कृतियों से भी साम्मुख्य होता है और यह साम्मुख्य कभी कभी सांस्कृतिक परमार्थ दृष्टि को गहराई से प्रभावित भी करता है। किन्तु रमेश जी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ने पाश्चात्य संस्कृति को जितनी आसानी से और जिन पदों से परिभाषित किया है वह बहुत अटपटा लगता है। उनकी परिभाषा है, 'अवधारणात्मक वशीकरण' और 'मैडीटेटिव के विपरीत कैल्कुलेटिव थिंकिंग'। ये दो पद रमेश जी के परम प्रिय पद हैं।

इनमें पहले का अर्थ और दूसरे का औचित्य मुझे आज तक समझ में नहीं आया। प्रथम पद के बारे में उनसे हुए एक वार्तालाप का यहां मैं उल्लेख करना चाहूंगा। एक बार हम कुछ और लोगों के साथ पिकनिक गए। वहां हमें एक झाड़ी दिखायी दी जो रमेश जी ने पहले कभी नहीं देखी थी। उन्होंने वह ध्यान से देखकर पूछा,"इसका नाम क्या है?" तब मैंने उनसे कहा, "बस, यही है अवधारणात्मक वशीकरण का प्रयत्न। झाड़ी आपके सामने प्रत्यक्ष है। इसका नाम जानकर आप क्या पाना चाहते हैं? इस नाम जानने से आपको लगता है यह आपके अधीन हो जायगी, किन्तु किस अर्थ में? इस अर्थ में कि यह आपकी भाषा के तंत्र में आ जायगी, आप इसके बारे में बात कर सकेंगे, इसे याद रख सकेंगे। कभी इसके बारे में लिखा मिल गया तो उस विवरण को इस प्रत्यक्ष से जोड़ सकेंगे। किन्तु यह सब इस झाड़ी पर अन्याय करना नहीं है, न इसमें इस पर कोई अधिकार जमाना ही अभीष्ट है।" रमेश जी के पास इसका कोई उत्तर नहीं था, किन्तु उन्होंने पश्चिमी सभ्यता की पिटाई करने के लिए इस पद का उपयोग करना तब भी नहीं छोड़ा। निश्चय ही यंत्र ने पाश्चात्य सभ्यता को प्रकृति को वश में करने की अद्भुत सामर्थ्य दी है, किन्तु संस्कृति मात्र ही प्रकृति को वशवर्ती करने की प्रक्रिया है—बाह्य प्रकृति को भी और मनुष्य की अपनी प्रकृति को भी। जड्डू कृष्णमूर्त्ति अपनी प्रकृति को वश में करने को भी हिंसा कहते हैं और इस प्रकार गांधी जी को सबसे बड़ा हिंसक कहते हैं। आज का यूरोपीय मनुष्य जो सिद्धि अत्यंत कुशल यंत्रों से प्राप्त करता है पहले का मनुष्य चक्की, चूल्हे से, योग-बल से और जादू से प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। यह वह अवधारणाओं से भी करता है, यह बात हमें समझ में नहीं आयी, क्योंकि अवधारणाएँ वास्तव में अर्थ-लोकों को पाने-समझने की ही माध्यम होती हैं, आप उन्हें स्वयं अर्थ भी कह सकते हैं। किन्तु मान लें कि यूरोपीय मनुष्य अवधारणाओं का उपयोग भी यंत्र की तरह ही करता है, तो रमेश जी यह बताने का कष्ट करेंगे कि ऋषियों की सन्तान हम भारतीय लोग अवधारणाओं का उनसे भिन्न प्रकार से कैसे उपयोग करते हैं? और वशीकरण यूरोपीय संस्कृति की परमार्थ दृष्टि है, यह बात भी मुझे युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती, उसकी परमार्थ दृष्टि तो ज्ञान-साधनापरक ही है। हां, यह कहा जा सकता है कि वह हमारी संस्कृति के समान ज्ञान का परम साधन प्रतिभा, अन्तश्चक्षु या आत्म-तादात्म्य को नहीं मान कर विज्ञप्ति (ऐन्द्रिय संवेद) मूलक तर्क को मानती है। किन्तु यह भी उसमें केवल एक धारा है, चाहे पिछली दो शताब्दियों से इसे उसकी मुख्य धारा भी कह दें, फिनॉमिनलोजीवाद और अस्तित्ववाद भी वहां पर्याप्त महत्त्वपूर्ण धाराएँ हैं जो संवेदात्मक विज्ञप्ति को आत्यंतिक नहीं मानतीं, अस्तित्ववाद तो तर्क को भी अप्रतिष्ठ मानता है, और यही दो धाराएँ वहां के साहित्य के भी आधार में हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जहां तक मैडिटेटिव और कैल्कुलेटिव (मननात्मक और व्यावहारिक ?) थिंकिंग का प्रश्न है, ये दो पद विचार के केवल दो विरोधी छोरों का ही आकलन करते हैं। रमेश जी ने ही इसके उदाहरण रूप में **उपनिषद्** और **हितोपदेश** का उल्लेख किया है। किन्तु तब रमेश जी की अपनी कविताएँ और उपन्यास तथा लेख इनमें से किस वर्ग में आते हैं? मज़े की बात देखें कि भारत में तो ये उनके अनुसार दो विरुद्धों में सामंजस्य साधने की प्रतिभा के द्योतक हैं और पश्चिम की प्रतिभा डेकार्ट, कांट, फ़िख़्ते, शैल्लिग, हेगल, ब्रैडले, बर्गसां, कीर्केगार्ड, हाइडेग्गर, सार्त्र और सांतायना आदि के बावजूद केल्कुलेटिव थिंकिंग की ही प्रतिभा है और उनका साहित्य उनकी इस पशु-सुलभ बुद्धि से असमंजस और इस प्रकार उनकी संस्कृति की अन्तर्विभक्तता का द्योतक हो जाता है। इस पर रमेश जी कह सकते हैं (यद्यपि ऐसा कुछ वे नहीं कहते, वे पूरी यूरोपीय संस्कृति की बात ही कर रहे हैं) कि उन्होंने इन दार्शनिकों के नाम नहीं लिए, वे तो ह्यूम, लॉक, रसल, कार्नप, ड्यूई, जेम्स आदि से प्रवर्तित आंग्ल-अमरीकी संस्कृति की बात कर रहे हैं। यदि यह मान भी लें तो भी या तो आप वहां के साहित्य को भी इसी दृष्टि के भीतर समेटें, या फिर उस संस्कृति को अत्यन्त जागरूक, अपने भीतर अपनी ही दृष्टि से संघर्षरत कहें, जिसके विपरीत हमारी संस्कृति है जो विरुद्धों को विरुद्ध स्वीकार कर इस स्थिति से जूझती नहीं है और जिसमें वैचारिक संघर्ष की योग्यता और ईमानदारी ही नहीं है (द्रष्टव्य है कि पश्चिम का हमारे पर यह आरोप है) और इस कारण जो व्यावहारिक कौशल का मार्ग अपनाती है। किन्तु यहा यह द्रष्टव्य है कि भारत में वैचारिक स्तर पर विरुद्धों में सामंजस्य की वैसी महिमा नहीं रही है जैसी इधर कुछ लोगों ने कल्पना की है। **श्रीमद्भगवद्गीता** ने ज्ञान और कर्म दोनों को परमपद प्रापक कहा है, किन्तु शंकराचार्य ने इसका घोर विरोध किया है। इसी प्रकार तुलसीदास ने शिव से राम की प्रशंसा और राम से शिव की पूजा करा कर यह समन्वय किया है, किन्तु शैवों और वैष्णवों के दीर्घ संघर्ष के बाद। यहां दार्शनिक विचार की यही परम्परा रही है कि दार्शनिक अपना विचार पर-मत-ख़ंडन से ही आरंभ करते थे। अन्य मतों के प्रति सहिष्णुता दूसरी बात है, विरुद्ध मतों में सामंजस्य दूसरी बात। इसमें कोई गौरव भी नहीं है, जैसाकि इन पदों का प्रयोग करने वाले समझते हैं। शब्द-प्रयोग में, बिना किसी युक्ति के प्रशंसा और निंदा की व्यंजना निहित कर देना विचार के लिए उपकारक नहीं कहा जा सकता।

अब संक्षेप में फ्रायड के 'डेथ ऑब्सेशन' और 'मोक्ष-दृष्टि की ऋणात्मकता' के बारे में। सर्वप्रथम, फ्रायड को यदि कोई ऑब्सेशन था तो काम-ग्रंथि का था, 'डेथ' का नहीं। दूसरे, इस इंस्टिंक्ट की बात उसके लिए मनोरोगियों के व्यवहार की व्याख्या के लिए कल्पित एक **अभ्युपगम** रूप थी, जीवन-दृष्टि नहीं, जबकि 'मोक्ष' एक पूरी संस्कृति की जीवन-दृष्टि है। फिर मज़े की बात यह है कि फ्रायड की 'डैथ इंस्टिंक्ट' के अभ्युपगम को तो आप ट्रिलिंग के साक्ष्य पर 'संस्कृति के आत्मघाती बंधन से छूट निकलने की एकमात्र संभावना' के रूप में देख रहे हैं और इस रूप में उसकी मोक्ष-दृष्टि से अनुरूपता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

देख रहे हैं और दूसरी ओर जयशंकर प्रसाद के साक्ष्य पर मोक्ष को ऋणात्मक अवधारणा भी कह रहे हैं। डेथ इंस्टिंक्ट अवांछनीय परिस्थितियों से (संस्कृति से नहीं) बचने के लिए अस्वस्थ मन की एक जुगत तो हो सकती है, कोई दृष्टि नहीं। इतनी ही बड़ी भ्रांति मोक्ष को एक ऋणात्मक अवधारणा कहने में है। मोक्ष विषयक यह दृष्टिकोण शिक्षित शहरी वर्ग में इधर यूरोप के प्रभाव से बना, अन्यथा इसमें कोई औचित्य नहीं है। इस भ्रांति का निराकरण हमने अन्यत्र (द्रष्टव्य हमारी पुस्तक **चिद्विमर्श** में 'मनुष्य, समाज तथा इतिहास विषयक वैदांतिक अवधारणा') किया है। ध्यातव्य है कि इस तथाकथित ऋणात्मक अवधारणा ने बुद्ध, शंकर, कबीर, नानक, श्री अरविन्द और रामकृष्ण परमहंस सरीखे व्यक्तियों को जन्म दिया जिनकी 'ऋणात्मकता' का लेशमात्र भी हमारी तथाकथित 'धनात्मकता' की क्षुद्रता दिखाने के लिए पर्याप्त है।

अब अन्त में हमारे द्वारा 'मोक्ष' के स्थान पर 'स्वातंत्र्य' पर विचार करने का स्पष्टीकरण। सबसे पहले हम यह स्पष्टीकरण करना चाहेंगे कि हमने 'चयन की योग्यता को स्वातंत्र्य' नहीं कहा है, बल्कि 'मुक्त' के अर्थ में 'स्वतंत्र चेता' को **वरणयोग्य** कहा है। अब रही मोक्ष की बात। हमने 'मोक्ष' को अस्वीकार किया है या उस पर सीधे विचार नहीं किया है, ऐसी बात भी नहीं है। **सत्ता विषयक अन्वीक्षा** के 'मानव-तत्त्व' अध्याय में (पृ. 168-71) मोक्ष पर भी विचार किया है और वहां इसकी केवल शांकर अवधारणा को ही नहीं संपूर्ण बौद्ध और वैदांतिक अवधारणा को ही अस्वीकार किया है, किन्तु इसकी ऋणात्मकता के कारण नहीं, बल्कि उस कारण से जो हमारे चिन्तन को इन चिन्तनों से पृथक् करता है। **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** के अन्तिम अध्याय में भी इसी अवधारणा पर विचार किया गया है, किन्तु उस अध्याय का शीर्षक 'मोक्ष' के बजाय 'स्वातंत्र्य' इसलिए रखा गया है क्योंकि वहाँ हम मोक्ष की अवधारणा को साधारण अनुभव के तारतम्य में दिखाना चाहते किन्तु जैसाकि हमने कहा, 'मोक्ष' की हमारी अवधारणा अन्य दर्शनों की अवधारणाओं से भिन्न है, किन्तु इसे उनके 'विपरीत' नहीं कह कर 'समानान्तर' कहा जा सकता है।

एक पूरक टिप्पणी के रूप में हम साहित्य के सम्बन्ध में यह कहना चाहेंगे कि यह मुक्त चिद्भूमि की अभिव्यक्ति भी हो सकता है, किन्तु अधिकांश में यह लोकसाधारण चिद्भूमि पर ही उपचरित रहा है, यद्यपि इस चिद्भूमि के अर्थों का इसमें अद्भुत उन्मेष हुआ है। ऐसा भी कह सकते हैं कि इस चिद्भूमि के अर्थों को एकमात्र इसी में अभिव्यक्ति मिली है, और ये अर्थ भी इतने समृद्ध और इतने अथाह हो सकते हैं यह केवल साहित्य (लिखित और वाचिक दोनों प्रकार के) के द्वारा ही हम देख पाये हैं। इस प्रकार यह संस्कृति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। किन्तु सब अर्थान्वेषणों की साधना की अन्तिम सिद्धि अपने अतिक्रमण में ही होती है, इस प्रकार साहित्य भी इस अतिक्रमण में ही अपनी सिद्धि पाता है। काम-वासना प्रेम में अपना अर्थ पाती है और प्रेम प्रेमी के प्रिय से तादात्म्य में। प्रेम के अर्थ का पारावार साहित्य में ही अपनी अपारता का दर्शन करता है और अपने स्वरूप को पहचानता है। फिर सुख-दुःख, कलह-सन्धि, मित्रता-शत्रुता, त्याग-लोभ कितने ही दूसरे पक्ष हैं जिनके अन्तस् में पैठ कर साहित्य इनकी अर्थ-राशियों का साक्षात्कार करता और उन्मज्जित होता है। ये अर्थोन्मेष चेतना की आत्म-लाभ की यात्रा का मार्ग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बनते हैं, जो मार्ग उस मोक्ष में निष्पन्न होता है जो सब अर्थों की परागति है, जो सब अन्वेषणों का सिद्धि-स्थल है।

यहां पुनः यह स्पष्टीकरण स्थाने होगा कि लेख में हमने जो अर्थों के विलयन की बात की है उसमें और इसमें कुछ अन्तर है। यह अन्तर इस कारण है क्योंकि वहां 'मोक्ष' पद को हमारी परम्परा में स्वीकृत अर्थ में ही लिया गया है और यहां हम इसे अपने द्वारा संशोधित अर्थ में ले रहे हैं। अपने इस संशोधन का विवेचन हमने **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** के उपर्युक्त अध्याय में भी किया है और नागार्जुन विषयक पुस्तक[1] के 'प्रपंच, निष्प्रपंच और प्रपंचातीत' अध्याय में भी किया है।

प्रोफेसर सिद्धेश्वरप्रसाद

सिद्धेश्वरप्रसाद जी का मेरे से प्रायः प्रायः ऐकमत्य है, किन्तु उन्होंने दो-तीन सुझाव प्रस्तुत किये हैं जिनके सम्बन्ध में थोड़ा स्पष्टीकरण अभीष्ट है। उनका मुख्य सुझाव यह है कि साहित्य और संस्कृति दोनों भाषा को पूर्वापेक्षित करते हैं इसलिए इस लेख में भाषा पर भी विचार होना चाहिए था, बल्कि, लेख के शीर्षक में ही भाषा को भी सम्मिलित होना चाहिए था। यह बात कुछ समझ में नहीं आयी। 'साहित्य और संस्कृति' शीर्षक के अन्तर्गत विचार की जो दिशा हो सकती है भाषा को सम्मिलित करने पर वह हो ही नहीं सकती, उस शीर्षक से विचार का सारा सन्दर्भ ही बदल जाएगा। इसके अतिरिक्त, सिद्धेश्वरप्रसाद जी को पता ही होगा कि संस्कृति विषयक पुस्तकों में भी अधिकांश संस्कृति-विचारकों ने भाषा-विचार को सम्मिलित नहीं किया है। उन्होंने गोविन्दचंद्र जी पांडे की **साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति** पुस्तक से दो उद्धरण दिये हैं, उन्होंने भी उस पुस्तक में, या संस्कृति विषयक दूसरी पुस्तकों में भी, भाषा पर विचार नहीं किया है। इसके विपरीत मैंने संस्कृति विषयक अपनी दोनों पुस्तकों में भाषा पर पृथक् अध्यायों में विचार किया है, **समाज** पुस्तक में तो भाषा के एक व्यापार 'संप्रेषण' पर भी पृथक् अध्याय में विचार किया है।

सिद्धेश्वरप्रसाद जी की एक आपत्ति मेरे इस वाक्य पर है कि "हमारे देश ने साहित्य और अन्य ललित कलाओं को काम और धर्म-मूलक अर्थों की विपुलता की सिद्धि के रूप में ही भजा है।" उन्होंने इस पर पांडेजी की उपर्युक्त पुस्तक को उद्धृत किया है जिसमें भारतीय कला-विश्व के दो चरण कहे गए हैं—आर्ष और लौकिक। अब, पहली बात तो यह है कि हमारी परम्परा ने वेद को कभी काव्य की कोटि में नहीं रखा, दूसरे, वेद को यदि धर्म-मूलक अर्थों का विमर्श नहीं कहेंगे तो और किन अर्थों का विमर्श कहेंगे? स्वयं पांडेजी ने भी यही कहा है। उन्होंने लौकिक चरण के काव्य को काम और अर्थ-मूलक ही कहा है। तीसरे, मैंने साहित्य के सम्बन्ध में जो कहा है उसमें आर्ष काव्य व्यावृत्त नहीं होता। मैंने अज्ञेय की उद्धृत कविताओं में वैदिक यज्ञ-दृष्टि के संकेत देखे हैं, इसके अतिरिक्त **गीता**, वाल्मीकि और तुलसीदास को भी इसी क्रम में देखा है।

—यशदेव शल्य

---

1. **नागार्जुनकृत मध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्तनी : युक्ति-परीक्षा और सिद्धान्त-विमर्श,** भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, 1990

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रतिक्रिया

'भारतीय भाषा-चिन्तन, भाष्य और आलोचना'* एक अन्वीक्षा

इलाहाबाद संग्रहालय द्वारा आयोजित भाषा सम्बन्धी व्याख्यानमाला के अंतर्गत श्री यशदेव जी शल्य के व्याख्यान पर आधारित उपरिनिर्दिष्ट शीर्षक निबंध में शल्य जी ने भाषा सम्बन्धी कुछ मौलिक एवं विचारोत्तेजक तथा विवाद्य मुद्दे प्रस्तुत किये हैं। शल्यजी एक गण्यमान्य दार्शनिक चिन्तक हैं अतः उनका भाषा-सम्बन्धी चिन्तन दर्शन के अध्येताओं के लिए विशेष महत्त्व रखता है। किन्तु अपने स्वतंत्र विचारों की प्रस्तुति शल्यजी ने कुछ उलझे ढंग से की है जिस से इन विचारों की तह तक पहुँचना कुछ कठिन हो जाता है। प्रस्तुत लेख में हम प्रथम शल्यजी के भाषा-विषयक चिन्तन को उन्हीं के वाक्यों के उद्धरणों की सहायता लेकर उपस्थित करेंगे। तदनंतर इस चिन्तन की समीक्षा संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करेंगे।

चर जीवों में शल्यजी के मतानुसार मनुष्य के पारस्परिक संप्रेषण-व्यवहार को ही भाषीय माना जा सकता है। अन्य जीवों में घटित होने वाली भावसंप्रेषण की विविध विधाओं को भाषा की संज्ञा नहीं दी जा सकती। मनुष्य और अन्य जीवों में जो संप्रेषण-व्यवहार हुआ करते हैं उनमें स्तर-भेद इतना अधिक होता है कि इन सब को एकसमान भाषीय मानना तर्क-संगत नहीं होगा। यह स्तर-भेद स्वीकार करना इनमें तारतम्य स्वीकार करना भी है और एक विच्छेद स्वीकार करना भी है। लेकिन शल्य जी तारतम्य के पक्ष को छोड़कर विच्छेद के पक्ष को ही प्रकाश में लाना चाहते हैं, क्योंकि उनके विचार में भाषा की दृष्टि से यह पक्ष ही महत्त्वपूर्ण है। इसका मतलब यह हुआ कि पशु-पक्षियों का पारस्परिक संप्रेषण-व्यवहार अवर स्तरीय भाषा-व्यवहार भी नहीं माना जा सकता। इसका कारण या तो यह होगा कि यह व्यवहार अर्थवाही सुस्पष्ट शब्दों के माध्यम से घटित नहीं होता या यह केवल उद्वेगों-प्रवृत्तियों के संप्रेषण से ही सम्बन्ध रखता है, विचार, ज्ञान या संवेदनाओं से नहीं। भाषाशास्त्री यह बात शायद अस्वीकार करें, क्योंकि भाषेतर जीव जिन अशान्त और अनेकविध ध्वनियों का परस्पर संप्रेषण के लिए प्रयोग करते हैं उनमें ही वे मानवीय भाषा का भी प्रारंभिक रूप देखते हैं। मनुष्य के प्रयोग में आनेवाली भाषा में अन्य जीवों द्वारा प्रयुक्त होनेवाली अनेक अशाब्द ध्वनियों जैसी ध्वनियाँ प्रायः समाविष्ट होती हैं। जैसे 'आह, ओह, वाह-वाह, हाय, अरे' इत्यादि सुख, दुःख, विस्मय, निराशा, क्रोध जैसी भावनाओं की अभिव्यंजक ध्वनियाँ मनुष्य के भाषीय-व्यवहार की अनिवार्य घटक

---

* यह लेख इलाहाबाद संग्रहालय द्वारा भाषा नाम से प्रकाशित तीन लेखों के संकलन में प्रकाशित हुआ है, इससे पूर्व यह मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् की पत्रिका साक्षात्कार के 1996 के किसी अंक में भी प्रकाशित हुआ। यह शल्यजी के एक लेख-संकलन साहित्य-चिन्तन और युग-चिन्तन (राका प्रकाशन, इलाहाबाद) में भी संकलित है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हो गयी हैं। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ये ध्वनियाँ (वस्तु) वाचक न होकर केवल भावाभिव्यंजक ही होती हैं जिससे इन्हें भाषीय समझना ठीक नहीं होगा। लेकिन विचार कर देखने पर प्रतीत होगा कि मनुष्य के प्रयोग में आनेवाली सभी शाब्द ध्वनियाँ अर्थवाही होने के साथ ही भाववाही भी होती हैं। उदाहरण के रूप में एक भाव-निरपेक्ष 'घर' जैसे शब्द को लें। 'यह एक घर है' जैसे वाक्यों में 'घर' शब्द घर रूप अर्थ का प्रमुखता से बोधक होते हुए भी 'यह घर ही है' जैसे साग्रह वाक्य में वक्ता के अभिनिवेश का व्यंजक भी होता है। देखा जाय तो प्रत्येक वर्णनात्मक या विध्यात्मक अथवा निषेधात्मक वाक्य में विधि-निषेध-वाची क्रियापद वक्ता के बौद्धिक अभिनिवेश से जुड़े हुए विधि-निषेध का ही प्रतिपादन करते हैं। ऐसा यदि न हो तो 'यह घर है' कथन करने वाला उच्चारक 'यह घर नहीं, एक खपरैल है' ऐसा प्रतिवाद करने वाले को ग़लत साबित करने के लिए तत्पर नहीं होगा। यदि मानवीय भाषा-व्यवहार को अवर जीवों के सदृश व्यवहार से अलगाना ही हो तो यह कहा जा सकता है कि मानवीय भाषा सामान्यतः अर्थबोधक तथा भावाभिव्यंजक होती है जबकि मुख्यतया अवर जीवों की अशाब्द ध्वनियाँ भावाभिव्यंजक तथा गौणरूप से अर्थबोधक होती हैं। अर्थबोध को पूर्णतया अवर जीवों की ध्वनियों से अपाकृत नहीं किया जा सकता। उदाहरणतः किसी खाद्य पदार्थ को देखकर कौआ जो काँव-काँव करता है उसके द्वारा वह प्राप्ति से उत्पन्न अपनी सुखानुभूति को व्यक्त करते हुए ही अन्य कौओं को खाद्य पदार्थ की सम्मुख उपस्थिति का संकेत भी देता है जिसके फलस्वरूप अन्य कौए भी उस खाद्य के सेवन के लिए आवाहक कौए के साथ सम्मिलित हो जाते हैं। अवर जीवों की कोई भी अशाब्द ध्वनि, जिस के अनेकानेक रूप होते हैं, पूर्णतया अर्थविरहित नहीं होती। तुतलाहट की अवस्था तक पहुँचने के पूर्व बच्चों की किलकारी जैसी ध्वनियाँ तथा अंगविक्षेप भी अवर जीवों की अशाब्द ध्वनियों जैसे ही होते हैं, मानवीय भाषा का परिष्कृत रूप इन्हीं ध्वनियों में से क्रमशः उद्‌भूत होकर अपने पार्यन्तिक रूप में वैज्ञानिक या गणितीय संकेतों या सूत्रों का रूप ग्रहण करता है।

भावाभिव्यंजन भाषीय व्यवहार का एक छोर है तो यथार्थ वस्तुस्थिति का वर्णन या वस्तुनिर्देश इस व्यवहार का दूसरा छोर है। जन-साधारण का भाषीय व्यवहार इन दो छोरों के बीच दोलायमान रहता है। किस व्यवहार या शब्द-प्रयोग में कौन-सा पक्ष उभरकर सामने आता है यह वक्ता, श्रोता के भाषीय व्यवहार के प्रयोजन आदि पर निर्भर करता है। कलाओं से संबद्ध भाषीय व्यवहार भावाभिव्यक्ति को यथार्थ वस्तुस्थिति के वर्णन से इतना अधिक महत्त्व देता है कि कभी-कभी यह वर्णन भावाभिव्यक्ति का संकेत मात्र बन जाता है। छायावादी, रहस्यवादी, प्रयोगवादी तथा समकालीन कविताएँ भाषा के भावाभिव्यक्ति पक्ष के अर्थ-बोध के पक्ष पर हावी होने के उदाहरण हैं। इस पर से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अवर जीवों के शुद्ध ध्वन्यात्मक तथा भावशबल व्यवहार से उद्‌गम पाकर भाषा उसी भावशबलता की ओर क्रमशः अग्रसर होती हुई अपनी पार्यन्तिक अवस्था में भाव विश्व में अन्तर्धान हो जाती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भाषांतर्गत उक्त द्वैत का विचार करने पर शाल्यजी ने मानवीय भाषा-व्यवहार को अन्य जीवों के संप्रेषण-व्यवहार से विच्छिन्न मान कर भाषा के सम्बन्ध में जो बातें कही हैं वे संदेहास्पद प्रतीत होती हैं। गाय का उदाहरण लेकर शाल्यजी कहते हैं कि 'गाय की दो अवस्थाओं—भूख और तृप्ति—के लिए कोई एक घास नहीं होता। . . . मनुष्य और अवर स्तरीय जीवों के लिए घास में यह भेद होता है कि . . . अन्य जीव इन्द्रिय-वृत्ति और अन्य वृत्तियों का विषयकरण नहीं कर पाते क्योंकि उनमें प्रेक्षकता नहीं होती। आत्मचेतन चेतना तथा उससे सहचरित सुस्पष्ट विषय-चेतना मनुष्य से भिन्न प्राणियों में नहीं होती यह शल्यजी का मंतव्य मान लिया जा सकता है। लेकिन मनुष्य के भी सभी भाषीय व्यवहारों में आत्म तथा विषय की सुस्पष्ट चेतना समाविष्ट होती है यह कैसे कहा जा सकता है? मनुष्य के अधिकतर भाषीय व्यवहार आत्मचेतना रहित ही हुआ करते हैं। जब किसी कारणवश अंतर्मुख होकर मनुष्य अपने व्यवहार को विषयरूपेण आकलन करने का प्रयत्न करता है तभी उसमें आत्म-चेतना उद्बुद्ध होती है अन्यथा अधिकतर मानवीय व्यवहार अनबूझे ही लुप्त हो जाते हैं। अन्य जीवों में आत्मचेतना होती है यह तो निश्चय से नहीं कहा जा सकता किन्तु उनमें यह चेतना बिल्कुल नहीं होती यह भी नहीं कहा जा सकता। आत्मरक्षणार्थ सभी जीवों का सब तरह प्रयत्नशील होना उन की आत्मचेतना का ही द्योतक प्रतीत होता है। यदि यह मान लें कि केवल मनुष्य ही आत्मचेतन होता है तब भी यह बात मान लेना कठिन है कि 'पाशव चेतना प्रस्तुत विषय में उससे उद्दीप्त चित्तवृत्ति के द्वारा तदात्म रहती है अथवा विषय चित्तवृत्ति से एकात्म रहता है जैसाकि शल्य जी कहते हैं। इस कथन के उदाहरण के तौर पर शल्यजी कहते हैं कि 'गाय के लिए घास उसकी चित्तावस्था के अनुसार रूपायित होता है। . . . गाय की दो अवस्थाओं —भूख और तृप्ति— के लिए कोई एक घास नहीं होता।

गंभीरता से विचार करने पर शल्यजी का उपर्युक्त कथन तथा उसे प्रमाणित करने के हेतु प्रस्तुत किया हुआ उदाहरण ये दोनों विवादास्पद लगते हैं। पाशव चेतना जिस किसी विषय की ओर उन्मुख होती है उस विषय को अपने से भिन्न और अपने लिए वांछनीय या प्राप्तव्य समझे बिना उसे प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त ही नहीं हो सकती है। गाय घास को अपने खाद्य पदार्थ के रूप में पहचान कर ही उसकी ओर दौड़ती है। किसी भी हालत में वह घास से तादात्म्य का अनुभव नहीं करती। यह बात सही है कि गाय आदि मनुष्येतर जीव 'इन्द्रिय वृत्ति और अन्य वृत्तियों का विषयकरण नहीं कर पाते' किन्तु इसके आगे जाकर शल्यजी जो यह कहते हैं कि इन जीवों में "प्रेक्षकता नहीं होती" यह तभी सही होगा जब 'प्रेक्षकता' का अर्थ 'आत्मप्रेक्षकता', 'आत्मचेतना' या 'चित्तवृत्तियों' के विभिन्न स्तरों का विषयकरण ऐसा लिया जाय। शल्यजी यह भी कहते हैं कि "चित्तवृत्तियाँ ही अवधारणाएँ या प्रत्यय होती हैं।" यदि यह बात मान लें तो इतर जीवों का सम्प्रेषण-व्यवहार भाषीय नहीं होता यह विचार स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन क्या चित्तवृत्तियों और उनके विषयभूत प्रत्ययों तथा वस्तुओं को अभिन्न मानना उचित है? और क्या यह विचार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तर्क-संगत है कि चित्तवृत्तियाँ अपने से अभिन्न प्रत्ययों का निर्माण कर उनका ही आकलन भी करती हैं? घटत्व, पटत्व, मनुष्यत्व आदि प्रत्यय (या ये विकल्प) मनोमूलक अथवा चित्तवृत्तियों द्वारा अभिव्यक्त अवश्य होते हैं किन्तु वे चित्त या चित्तवृत्तियों से तादात्म्यापन्न होते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रत्ययों के स्वरूप के सम्बन्ध में यह धारणा संभवतः इस कारण उत्पन्न होती है कि अंग्रेज़ी में प्रत्यय शब्द के समानार्थक के रूप में 'कॉंसेप्ट' शब्द प्रयुक्त होता है और यह चित्तवृत्ति और अवधारणा या वस्तुगत धर्म इन दोनों अर्थों का वाचक माना जाता है। इन दो अर्थों में विषयी और विषय के रूप में भेद होते हुए भी प्रायः इस भेद को शब्द-प्रयोग के प्रसंग में भुला दिया जाता है।

बौद्धों का शब्दों को या शब्द-सन्निवेश-रचित भाषा को प्रमाण न मानने का कारण केवल शब्दों या शब्द-प्रयोगों की विकल्पमूलकता नहीं है, जैसा कि दिङ्नाग की एक उक्ति को उद्धृत कर शल्य जी कहते हैं। शब्द-प्रयोग वक्तृविवक्षाधीन ही प्रमुखतया होते हैं, वस्तु-पारतन्त्र्य (जो बात अन्य सभी भारतीय दर्शनकार मानते हैं) उनमें प्रायः नहीं होता, अतः उन्हें प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, ऐसा निम्न कारिका में स्पष्टतया धर्मकीर्ति कहते हैं—

वक्तृव्यापार-विषयो योऽर्थः बुद्धौ प्रकाशते।
प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थ तत्त्व-निबंधनम्॥

इस पर से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वस्तुजगत् के साथ शब्दों का साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। वक्ता या शब्द-प्रयोक्ता वस्तुओं के (अपने) अनुभव (प्रत्यक्ष या अन्यविध) के संप्रेषण का प्रयास शब्द-प्रयोग द्वारा किया करता है और श्रोता वक्ता के शब्दों को सुन कर इन्हीं अनुभव-विषयों के आकलन का प्रयास करता है। वक्ता के अनुभव के परे वस्तुजगत् में वस्तुओं का अपना क्या स्वरूप है, यह शब्द-प्रयोग के द्वारा जाना नहीं जा सकता। फिर भी मोटे तौर पर शल्यजी का यह मंतव्य मान ले सकते हैं कि बौद्ध मतानुसार भाषा . . . मनोमूलक लोक का ही निर्माण करती है क्योंकि जगत् विकल्प-जन्य ही है। यथार्थ इससे परे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय है।

आगे चलकर बौद्ध मत-विरोधी न्याय-मत का निर्देश करते हुए शल्यजी कहते हैं कि नैयायिकों ने सामान्य को विशेष के समान ही अस्तित्ववान् माना किन्तु सामान्य को इन्द्रिय-गोचर कहने में यही मान्यता निहित है कि अस्तित्ववान् होने के लिए इन्द्रिय-गोचर होना आवश्यक है। इस वाक्य का उत्तरार्ध न्यायमत को विपर्यस्त रूप में प्रस्तुत करता है। न ही नैयायिक यह मानते हैं कि अस्तित्ववान् होने के लिए इन्द्रिय-गोचर होना आवश्यक है और न ही वे सामान्य का अस्तित्व विशेष के अस्तित्व के जैसा ही समझते हैं। काल, आकाश, ईश्वर आदि पदार्थ इन्द्रियागोचर होते हुए भी न्यायमतानुसार अस्तित्ववान् या सत् हैं और सामान्य की सत्ता नित्य तथा स्वयंसिद्ध होने के कारण विशेषों की सतत परिवर्तमान एवं पराधीन सत्ता से नितांत भिन्न प्रकार की तथा अलौकिक संनिकर्ष से ही प्रत्यक्षगम्य होती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बौद्धों के अपोहवाद का न्याय की भूमिका के आधार पर प्रतिवाद करते हुए आगे शल्यजी कहते हैं कि कुम्हार घट की कल्पना घटत्व के रूप में ही करता है और घट विशेष में उस घटत्व का ही अवतरण होता है। क्या यह कथन अपोहवाद के निरास के लिए पर्याप्त है? बौद्ध सामान्य का स्थान अन्यापोह को देते हैं। उदाहरणतः घटान्य के अपवारण के रूप में ही घट मात्र को पहचाना जाता है और पहचाना जाना चाहिये ऐसी बौद्धों के अपोहसिद्धान्त की मान्यता है। घट मात्र में जैसे घटत्व सामान्य स्वरूप विध्यात्मक धर्म विद्यमान है वैसे ही घटान्य के अपवारण स्वरूप निषेधात्मक धर्म भी विद्यमान है। नैयायिक इन दोनों धर्मों की सत्ता स्वीकार करते हैं किन्तु बौद्ध निषेधात्मक धर्म को ही घटमात्र का स्वरूप इस लिए मानते हैं क्योंकि उनके मतानुसार निषेध अवस्तु है। उसकी सत्ता स्वीकार करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। घटमात्र स्वरूपतः ही स्वान्य का अपवारक होता है। इस अपवारण के लिए अपवारक धर्म की अलग सत्ता मानना बौद्ध मतानुसार अनावश्यक है। वैसे देखा जाय तो नैयायिक वस्तुगत सामान्य को वस्तु के अन्यापवारण का तात्त्विक और ज्ञानमीमांसीय आधार ही मानते हैं। घट स्वरूपतः इसी लिए घट है कि वह स्वान्य पदार्थों का स्वरूपतः, याने अपने घटत्व रूप सामान्य के द्वारा, अपवारण करता है। बौद्ध घटत्व को वस्तुगत विध्यात्मक धर्म के रूप में सत् न मानकर घट के स्वरूप को घट रूप ही मानते हैं जिससे अन्यापवारण की घट में स्वतंत्र निषेधात्मक सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस प्रकार देखा जाय तो अपोहवाद के स्वीकार में लाघव प्रतीत हो सकता है। प्रत्येक वस्तु में विधि-निषेधात्मक दो अलग-अलग धर्मों की सत्ता स्वीकार करने की अपेक्षा वस्तु को स्वलक्षण या स्वतोव्यावृत्त मानना अवश्य लाघवयुक्त है। यह बात अलग है कि वस्तुओं के अनुगत स्वरूप का स्वतोव्यावृत्ति के आधार पर स्पष्टीकरण करना सरल नहीं है। इस संदर्भ में शल्यजी विज्ञान और न्याय जैसे दर्शन की ज्ञान-सम्बन्धी भूमिकाओं की तुलना करते हुए लिखते हैं कि . . . (वस्तु की) तथाकथित वस्तुता में हमारे प्रवेश की गहराई हमारी चेतना की गहराई में उतरने के अनुपात में ही होती है। उदाहरणतः गाय का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-गम्य ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान की तुलना में नगण्य होता है।

विज्ञान का प्रत्यक्ष पूर्णतः प्रत्ययमूलक ही होता है, इस उद्धरण में कही गयी बातें न बौद्ध जैसे दर्शनों की न विज्ञान की ही भूमिका को सही सही लागू होती हैं। उक्त दर्शनों की दृष्टि में वस्तुओं की वस्तुता में प्रवेश का कोई मतलब ही नहीं है। वस्तुओं का दृश्य स्वरूप तो इन्द्रियगम्य ही होता है उस दृश्य स्वरूप के आधार पर वस्तुओं की रचना या उनके घटकों के और उनके सन्निवेश के सम्बन्ध में जो आनुमानिक ज्ञान प्राप्य है उसी की खोज विज्ञान में की जाती है। दर्शनों में भी वस्तुओं के स्थूल रूप के ऐन्द्रिय ज्ञान के आधार पर उनके घटक अदृश्य परमाणुओं का अनुमान किया जाता है। आधुनिक विज्ञान परमाणुओं से भी कहीं आगे निकल गया है किन्तु दर्शन परमाणुओं को ही वस्तुस्वरूप-विश्लेषण की सीमा मानकर उसके आगे नहीं बढ़ पाये हैं। मूलतः विज्ञान और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दर्शनों के वस्तुस्वरूप-विचार में प्रत्यक्षमूलक या वस्तुमूलक ऐसा कोई भेद नहीं है। वस्तुस्वरूप के यथावत् तथा परिपूर्ण आकलन के लिए दर्शन और विज्ञान दोनों ही (विभिन्न प्रकार के) प्रत्ययों का उपयोग करते हैं। स्थूल रूप से कह सकते हैं कि दर्शन प्रत्यक्षगम्य वस्तुओं के गुण-धर्मों को वस्तुओं के उपादान तथा निमित्त कारण के परीक्षण के आधार पर समझने का प्रयत्न करते हैं जब कि विज्ञान उपादान कारणों के विविध संनिवेशों या रचनाओं का प्रायोगिक अध्ययन कर वस्तुओं के स्वरूप-निर्धारण का प्रयास करते हैं। अपने भाषा-सम्बन्धी समग्र विवेचन के निष्कर्ष के रूप में शल्यजी जो विचार प्रस्तुत करते हैं वे उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार हैं—

'सद्यः प्रदत्त या अव्यवहित प्रत्यक्ष जैसा कुछ नहीं होता। वह चेतना के स्तर-भेद के साथ भिन्न होता है . . . एक प्रकार से कहा जा सकता है कि इनमें विकसिततम चेतना के लिए भी यथार्थ (वस्तु के यथात्व) का कोई अर्थ नहीं होता। . . . संस्कृत में 'अर्थ' शब्द वस्तु और शब्द-संपृक्त अभिप्राय या तात्पर्य दोनों के लिए प्रयुक्त होता है—हम कहना चाहेंगे कि ये दो नहीं एक ही चित्त की दो पर्यन्तताएँ हैं, अर्थात् घट का शब्दार्थ और घट वस्तु ये दो एक ही के दो आयाम हैं। ठोस वस्तु या घटित चित्त-वृत्ति तात्पर्य की ही पर्यन्तता का छोर होती है।" इन वाक्यों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से स्पष्टतया प्रतीत होता है कि बौद्ध मत का प्रथम खंडन करने के अनंतर कुछ अन्य भाषा सम्बन्धी विचार प्रस्तुत कर शल्यजी अंत में बौद्ध मत को ही अपने समग्र चिन्तन के निष्कर्ष के रूप में पुरस्कृत करते हैं। अपने **विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि** नामक ग्रंथ के उत्तरार्ध के प्रारंभ में ग्रंथकार वस्तुबंधु (जो योगाचार बौद्ध संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं) वस्तुस्वरूप का विवेचन करते हुए कहते हैं कि—

आत्मधर्मोपचारोऽसौ विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञान परिणामोऽसौ परिणामः स च त्रिधा॥
विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च।

अर्थात् वस्तुएँ, उनके विभिन्न गुण-धर्म, आत्म और उस की मैं, मेरा, मैं ही ('मान' 'अतिमान' जैसे शब्दों से वसुबंधु ने निर्देश किया है) ऐसी विविध अभिव्यक्तियां, जिन पर सब तरह के सांसारिक व्यवहार आधारित होते हैं, विज्ञान के ही परिणाम हैं। विज्ञान ही आत्मोपचार तथा धर्मो (वस्तु) पचार का अधिष्ठान होता है क्योंकि इन औपचारिक रूपों में वह परिणत होता है या इन रूपों को धारण किये हुए अपनी सत्ता प्रकट करता है। आत्म, धर्म आ[illegible] का विज्ञान-निरपेक्ष ऐसी कोई (वास्तविक) सत्ता नहीं है। वसुबंधु का यह विज्ञानमात्र सत्ता-सिद्धान्त और ऊपर उद्धृत किया हुआ शल्यजी का शब्दार्थ रूप अर्थ (या वस्तुसत्) सम्बन्धी निष्कर्ष एक-दूसरे से कितने मिलते जुलते हैं यह विशद करने की आवश्यकता नहीं है। दिङ्नाग के मत का उल्लेख कर उसको जिस कारण शल्यजी ने पीछे अयौक्तिक ठहराया है वही कारण उनके उक्त निष्कर्ष को भी लागू होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दिङ्नाग के प्रतिवाद में शल्यजी कहते हैं कि 'भाषा भी, जो विचार-मूलक ही है, जो अनुभव का वचन करने में नितान्त अक्षम्य है, वस्तु-ज्ञापक नहीं हो कर कल्पनामूलक आवरण ही होती है।' भाषा यदि कल्पनामूलक और अनुभव का वर्णन करने में असमर्थ ऐसा वस्तुसत्य का आवरण ही है तो शब्द से अविश्लिष्ट रूप से संपृक्त शब्दार्थ को भी अर्थ का आवरण ही या अर्थ को अपनी कुक्षि में समा लेने वाला संघात अथवा पुद्गल ही मानना उचित होगा, भले ही शब्दार्थ के अथवा उसकी अधिष्ठानभूत मनोवृत्तियों के कितने ही विभिन्न स्तर हों। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि जिस बौद्ध मत को अस्वीकार कर उक्त निष्कर्ष की ओर शल्यजी अग्रसर हुए हैं वह सौत्रान्तिक संप्रदाय के बौद्धों का मत है जिसके अनुसार सामान्य से भिन्न स्वलक्षण वस्तु की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ग्राह्य व्यावहारिक और पारमार्थिक भी सत्ता होती है। इस सत्ता का आकलन न कर सकने के कारण ही शब्द को ये बौद्ध अप्रमाण कहते हैं। योगाचार संप्रदाय के बौद्ध इन्द्रिय-ग्राह्य तथा विज्ञान-निरपेक्ष एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विषय ऐसी वस्तु की सत्ता अस्वीकार कर (समग्र) विधि की ही सत्ता को विज्ञान में समाविष्ट कर देते हैं। ऐसा करने का एक कारण यह है कि क्षणभङ्गवादी सौत्रांतिक वस्तु और उसके ज्ञान को परस्पर सहचरित नहीं मान सकते। विज्ञानवाद के पुरस्कार के अन्य भी कुछ कारण हैं जिनकी यहाँ चर्चा अनपेक्षित है। शल्यजी योगाचार विज्ञानवाद को ही अंत में पुरस्कृत करते हैं जब वे शब्दार्थ और वस्तु की एकात्मकता की बात करते हैं।

नारायण शास्त्री द्राविड़

उत्तर

द्राविड़ जी ने मेरे लेख पर जो टिप्पणी लिखी है उसमें वे दो आलोचनाएं आश्चर्यजनक हैं जो भाषा विषयक मेरे प्रतिपादन से सम्बन्ध रखती हैं। शेष में उन्होंने न्यायदर्शन और अपोह-सिद्धान्त विषयक मेरे नितान्त आनुषंगिक रूप से लिखे चार-छः वाक्यों पर टिप्पणी की है। जहां तक न्यायविषयक मेरे दो वाक्यों का सम्बन्ध है, वे इस प्रकार हैं—"अवश्य इसके विपरीत नैयायिकों ने सामान्य को विशेष के समान ही अस्तित्ववान् माना, किन्तु सामान्य को इन्द्रियगोचर कहने में यही मान्यता निहित है कि अस्तित्ववान् होने के लिए इन्द्रियगोचर होना आवश्यक है। यों नैयायिक पद द्वारा वाच्य पदार्थ मात्र को ही सत् मानते थे, किन्तु यहां हम इस चर्चा में नहीं जाएंगे।"(पृ. 13) इसमें दूसरे वाक्य से स्पष्ट है कि मैं नैयायिकों को मात्र इन्द्रियमूलक ज्ञानवादी नहीं कह रहा हूँ। केवल जाति के ज्ञान के बारे में कह रहा हूँ, जो वैसा ग़लत नहीं है, यद्यपि असम्यक् और थोड़ा ग़लत ढंग से लिखा गया है। नैयायिक जाति का ज्ञान इन्द्रिय के साथ संयुक्त समवाय सम्बन्ध से मानते थे, उसके अलौकिक प्रत्यक्ष से ज्ञान का विचार बाद के नव्य नैयायिकों का है। किन्तु मैंने इस लेख के आरंभ में ही स्पष्ट रूप से कहा है कि मैं यहां प्राचीन भारतीय मतों की चर्चा नहीं करूंगा। इसलिए न्याय या अपोहवाद का उल्लेख इस लेख में केवल अवान्तरतः और दो चार वाक्यों में ही हुआ है। किन्तु द्राविड़ जी ने अपनी आलोचना ऐसे लिखी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है जैसे मैंने इन दर्शनों पर और इनके संदर्भ में ही लिखा हो। इस प्रकार इन मतों पर उनकी टिप्पणी अपने आप में जैसी भी हो, उसका मेरे लेख में व्यक्त विचारों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जहां तक मेरे दो प्रतिपादनों पर उनकी आलोचना का प्रश्न है, वह इतनी स्पष्ट रूप से भ्रान्तिमूलक है कि उसका उत्तर देने के लिए मुझे विस्तार से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पहली पाशव चेतना से मानव चेतना के तारतम्य और शब्द की हुंकार आदि से तारतम्य की बात। तारतम्य तो पाशव चेतना में भी स्पष्टतः है और उसी प्रकार पाशव चेतना से मानव-चेतना में भी है। केंचुए, गाय और बन्दर में चेतना का एक ही स्तर नहीं है और वानर-चेतना तथा मानव-चेतना पर्याप्त निकट हैं, उससे कहीं अधिक निकट जितनी केंचुए की वानर से। इस तारतम्य की बात मैंने कई स्थानों पर लिखी है, उन्मीलन के जुलाई, 96 अंक में प्रकाशित ऋत विषयक लेख में भी लिखी है। किन्तु बन्दर की किटकिट, या कोई और ध्वनियां भी, भाषा का अवरस्तरीय रूप नहीं कही जा सकतीं। भाषा की लघुतम इकाई वाक्य होती है, शब्द केवल उसका अविभाज्य अंग होता है। 'हाय' आदि आवेग-व्यंजक ध्वनियां अशाब्द ध्वनियों के रूप में भी उच्चरित होती हैं और शाब्द ध्वनियों के रूप में भी। जैसे, यदि कोई रोने या चिल्लाने में 'हाय' ध्वनि करता है तो वह ध्वनि शाब्द नहीं कही जा सकती किन्तु 'अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी' इस वाक्य में 'हाय' ध्वनि शाब्द है। भावनाभिव्यंजक शब्दों की शब्दता का मैंने निषेध नहीं किया है, इसी लेख में पृ. 15-16 पर तथा आलोचना के स्वरूप-विवेचन के प्रसंग में (पृ. 21-25 पर) इसके सम्बन्ध में लिखा है—यदि द्राविड़जी ने वह लेख पूरा देखा हो तो।

अब रही "आत्मचेतन चेतना' की बात। आत्मचेतन चेतना वह है जो अपनी वृत्तियों का भी विषयकरण कर सकती है, जैसे, मैं सुखी हूं, दुःखी हूं, देख रहा हूं, आंखें बन्द किये हूं, जाग रहा हूं आदि में। यही चेतना ऐन्द्रिय संवेद-वृत्तियों का भी विषयकरण कर सकती है और बाह्य अर्थों का आक्षेप भी कर सकती है और उन्हें अनैन्द्रियवृत्तियों से पृथक् कर सकती है। जब हरा घास देखकर हमें अच्छा लगता है तब हम कहते हैं "घास कितना सुन्दर है, देखकर मन प्रसन्न हो गया!" इसमें 'यह घास है, घास का दृश्य आकर्षक है, मैं इसे देख रहा हूँ और इसे देखने में मेरा मन प्रसन्नता अनुभव कर रहा है' ये सब अर्थ या विषय पृथक्तः वाच्य होते हैं, चाहे बोलने वाला इन्हें इस प्रकार विश्लिष्ट रूप से चीन्ह रहा हो, चाहे नहीं चीन्ह रहा हो। किन्तु आवश्यकता होने पर वह इन्हें पृथक् चीन्ह सकता है, निहित रूप से चीन्हता भी है। पाशव चेतना यह नहीं कर सकती। वह घास, उसकी हरितता, आह्लादकता और अपने आह्लाद तथा देखने को एक ही में देखती है, अथवा कहें इस अविश्लिष्ट अवस्था में होती है। कव्वे हर्ष, भय या क्रोध से जब काँय काँय करते हैं तब वे अपनी मनोऽवस्था और उस अवस्था के उद्दीपक बाह्य विषय को और उस विषय के स्वकीय रूप को पृथक्-पृथक् नहीं देखते, बाह्यार्थ को वे बाह्यार्थ के रूप में तभी निर्धारित कर सकते हैं यदि वे अपनी चित्तवृत्ति का भी बाह्यार्थ रूप में निर्धारण कर सकें, जो वे नहीं कर सकते। यही चेतना की अनात्म चेतनता है। 'आत्मचेतन चेतना' का अर्थ 'आत्मानंविद्धि' में वाच्य 'आत्म-बोध' से नहीं है। इसीसे मैं 'आत्मचेतना' शब्द का नहीं 'आत्मचेतनचेतना' शब्द का प्रयोग करता हूं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दूसरी भ्रांति द्राविड़जी को मेरे मत की योगाचार बौद्धों के मत से अनुरूपता देखने में हुई है। यह भ्रांति रज्जु में सर्प-दर्शन से भी अधिक विकट है। योगाचार बौद्ध ही नहीं, सभी बौद्ध दर्शन-संप्रदाय विकल्प को आवरक और वस्तु-अप्रापक मानते हैं। वसुबन्धु विज्ञप्तिमात्रता-भाव की सिद्धि को संबोधि मानते हैं और दिङ्नाग निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सिद्धि को। इनके विपरीत मैं विकल्प को ही वस्तु-प्रापक मानता हूँ और उसे संबोधि का द्वार मानता हूं। इस मत की व्याख्या मैंने अपनी पुस्तकों में बहुत विस्तार से की है और इस लेख में भी की है। आश्चर्य यह है कि द्राविड़जी ने वे पुस्तकें भी पढ़ी हैं। तब भी द्राविड़जी को यह कैसे दिखायी दिया कि मैं योगाचार बौद्धों का अनुयायी हूं, यह मेरे लिए एक रहस्य है।

यहां मैं संक्षेप से चारेक स्पष्टीकरण और करना चाहूंगा :

द्राविड़ जी लिखते हैं—"शल्य जी यह भी कहते हैं कि चित्तवृत्तियां ही अवधारणाएं या प्रत्यय होती हैं।" किन्तु मैंने तो ऐसा कहीं नहीं लिखा, न मैं 'अवधारणा' और 'प्रत्यय' का प्रयोग ही पर्यायवाची रूप में करता हूं। पिछले अंक में डॉ. मुकुंद लाठ ने 'संस्कृति और साहित्य' विषयक मेरे लेख पर टिप्पणी में प्रत्यय विषयक मेरी अवधारणा पर कुछ प्रकाश डाला है जो द्रष्टव्य है।

आगे द्राविड़ जी कहते हैं—"बौद्धों के अपोहवाद का न्याय की भूमिका के आधार पर प्रतिवाद करते हुए शल्य जी कहते हैं कि कुम्हार घट की कल्पना घटत्व के रूप में ही करता है और घट विशेष में घटत्व का ही अवतरण होता है। क्या यह कथन अपोहवाद के निरास के लिए पर्याप्त है?" सर्वप्रथम, यह न्याय की भूमिका कैसे है? क्या न्याय विशेष को सामान्य का अवतरण मानता है? दूसरे, मैं अपोहवाद की समीक्षा कहां कर रहा हूं और वह भी न्याय की भूमिका पर से, जिससे मेरा दूर दराज़ से भी लेना-देना नहीं है? मैं तो अपने मत का प्रतिपादन कर रहा हूं और उस प्रसंग में अपोहवाद का उल्लेख भी कर दिया। उसमें अपोहवाद की पर्याप्त आलोचना का कोई लक्ष्य ही नहीं है। किन्तु यदि इस दृष्टि को स्वीकार कर लिया जाय तो यह सभी बौद्ध मतों की एक आधारभूत आलोचना तो है ही। आगे द्राविड़ जी लिखते हैं, "दिङ्नाग के प्रतिवाद में शल्य जी कहते हैं कि भाषा भी, जो विचारमूलक ही है, जो अनुभव का वचन करने में नितांत अक्षम है, वस्तु-ज्ञापक नहीं हो कर कल्पनामूलक आवरण ही होती है।" किन्तु यह तो दिङ्नाग ही का मत है, मेरा नहीं, तो मैं यह दिङ्नाग के प्रतिवाद में कैसे कह सकता हूं?

वस्तुस्वरूप में हमारे प्रवेश की गहराई विषयक मेरे मत को उद्धृत कर वे कहते हैं कि "इस उद्धरण में कही गई बातें न बौद्ध जैसे दर्शनों की न विज्ञान की ही भूमिका को सही सही लागू होती हैं।" किन्तु ये बातें मैंने बौद्ध या वैज्ञानिक भूमिकाओं को लक्षित कर नहीं कहीं, ये बातें मैंने वस्तुस्वरूप पर विचार के प्रयत्न मात्र के लिए ही कही हैं। द्राविड़ जी को बताना यह चाहिए था कि ये वस्तुस्वरूप-विचार पर क्यों लागू नहीं होतीं? तब चाहे वे बौद्धों या विज्ञान की भूमिका को ही उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते।

यशदेव शल्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रतिक्रिया

शांकर वेदान्त का भारतीय समाज पर प्रभाव

उन्मीलन के वर्ष 9, अंक 1, जनवरी 1995 में श्रद्धेय नारायण शास्त्री द्राविड़ का लेख "अद्वैत वैदान्तिक कुछ महत्त्वपूर्ण सामाजिक निष्कर्ष" प्रकाशित हुआ। लेख में एक ओर जहाँ दर्शन की प्रासंगिकता की खोज की प्रेरणा मिलती है वहीं अनेकता-भेद-विषमताजन्य सामाजिक दुष्प्रभावों से चिन्ता और उन्हें दूर करने का सद्भावनापूर्ण उत्साह भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। ऐसा प्रयास निश्चय ही अभिनन्दनीय है। लेख में जो बात खटकती है वह है सद्भावनाजन्य उत्साह के साथ तथ्यात्मक युक्तिसंगतता का अभाव। यह सत्य है कि संसार में, मानव-समाज में, भेद-दृष्टि, विषमता, जाति, वर्ण, सम्प्रदायों की अनेकता, अशांति, वैमनस्य, द्वेष आदि को पल्लवित होते देख व्यथा होती है। किन्तु इस व्यथा को दूर करने के लिए भेद और अनेकता को ही अस्वीकार कर देना सदिच्छाजन्य भावुकता ही होगी। समाज के संदर्भ में इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि क्या उक्त व्यथा के कारक अशांति, वैमनस्य आदि का मूल भेद-दृष्टि ही है?

श्री द्राविड़ लिखते हैं "वैसे तो जगत् में सर्वत्र नाना प्रकार के भेद ही दृग्गोचर होते हैं लेकिन अनन्त नानाविध पदार्थों की समष्टि के रूप में यदि जगत् का हम विचार करें तो इस समष्टि में किसी भी भेद का स्वतंत्र रूप से अस्तित्व हमें प्रतीत नहीं होगा। इस कारण भेद को समष्टि में किसी भी प्रकार के द्वैत या संघर्ष का (अनिवार्यतया) जनक नहीं माना जा सकता है। हाँ, यदि भेद प्रत्येक वस्तु (जड़ अथवा चेतन) का स्वभाव ही हो तो भेद संघर्ष या विरोध का जनक हो सकता है।"

अब, भेद का समष्टि में स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है—ऐसा मानने का आशय क्या है? समष्टि की अवधारणा ही भेद के अस्तित्व की स्वीकृति का परिणाम है। 'भेद स्वतंत्र नहीं है'—कहने का यदि अर्थ यह है कि वस्तुतः भेद है ही नहीं, केवल भ्रम या प्रतीति मात्र है, तब समष्टि भी इसी प्रकार भ्रम होगी। लेकिन भेद का और इसलिए समष्टि का, कोई युक्तिसंगत निराकरण संभव नहीं है। वास्तव में भेदहीनता या अभेद केवल कल्पना है। भिन्न-भिन्न तत्त्वों में मूलगामी समानता तत्त्वों की भिन्नता और स्वतंत्रता के अस्तित्व का निराकरण नहीं करती, केवल असम्बन्ध का निराकरण करती है। इलेक्ट्रॉन प्रोटॉन आदि मूल कणों का ऊर्जा-पुंज ही लौह और स्वर्ण में है—यह निष्कर्ष लौह और स्वर्ण में भेद का निषेध नहीं करता। वास्तव में श्री द्राविड़ 'स्वतंत्र अस्तित्व' को असम्बद्ध अस्तित्व मानते प्रतीत होते हैं अन्यथा भेद के स्वतंत्र होने में और परस्पर सम्बन्धित होने में कोई विरोध नहीं है। और इसीलिए समष्टि में भेद का अस्तित्व संघर्ष का (अनिवार्यतया) जनक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नहीं होता। जब भेद और नानात्व यथार्थ और निरपवाद अनुभवजन्य तथ्य है और संघर्ष का यह अनिवार्यतया जनक नहीं है, तब नानात्व या भेद को नकारने की आवश्यकता किसी भी स्तर पर आवश्यक क्यों है?

श्री द्राविड़ का यह कथन भी हमारी समझ से परे है कि "भेद न वस्तु-स्वभाव है न वस्तु-घटक। वस्तु की स्वयंपूर्णता (?) के अज्ञान से ही भेद की भ्रान्त धारणा उत्पन्न होती है, भेद असत् होने से संघर्ष आदि भी असत् हैं। मनुष्य-समाज भी एक समष्टि होने के कारण उसे भी भेद-घटक मानना तर्कसंगत नहीं है।" आगे वे लिखते हैं—"जो लोग धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, भाषा, देश आदि के आधार पर समाज में द्वैत या संघर्ष का निर्माण करते हैं वे समाज के वास्तविक समष्टि-रूप स्वरूप को या तो समझ ही नहीं पाते या समझ कर भी जान-बूझकर इसकी अनदेखी करते हैं।" इस अंश पर विचार करें तो भेद-निषेध की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है। यह मानकर कि धर्म, जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, भाषा आदि के भेद उनमें संघर्ष के कारण हैं, संघर्ष को इन भेदों के रहते टाला नहीं जा सकता, द्राविड़ जी को भेद को ही भ्रान्त घोषित कर देना उचित प्रतीत हुआ। लेकिन क्या 'भेद असत् होने से संघर्ष आदि भी असत् हैं' मान लेने से संघर्ष समाप्त हो जाएंगे? यह तो सिरदर्द से बचने के लिए सिर ही काट देने जैसा समाधान है जो कि वास्तव में कोई समाधान नहीं है। संघर्ष तो है, और हम मानें या ना मानें भेद भी है—इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः किस अर्थ में भेद को, अतः संघर्ष को असत् कहा जा सकता है?

'असत्' यदि आकाश-कुसुमवत् अलीक के अर्थ में है तो भेद को असत् नहीं कहा जा सकता। 'असत्' यदि बांधत्व के अर्थ में है, जैसा कभी-कभी अद्वैतवादी मानते हैं, तो ऐसा केवल विशिष्ट संघर्ष की घटना के लिए ही कहा जा सकता है। एक विशेष संघर्ष होता है, समाप्त हो जाता है, लेकिन 'संघर्ष' स्वरूपतः अबाधित रहता है। सामाजिक परिवर्तन के कई कारकों में संघर्ष भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है। समाज के स्वरूप में ही संघर्ष निहित है। अतः संघर्ष को किसी अर्थ में असत् मान लेने से संघर्ष से मुक्ति नहीं मिलती।

पुनः, मनुष्य-समाज को एक समष्टि मानने पर भी न तो भेद का और न ही संघर्ष का लोप होता है। वास्तव में मनुष्य-समाज जैसा कुछ होता भी नहीं। यह केवल सुविधा के लिए प्रयुक्त भाषायी प्रतीक है। इसकी उपयोगिता केवल कल्पना में है। 'मनुष्य' सामान्यवाची पद होने के कारण सभी मनुष्यों को मिलाकर एक समाज या समष्टि की कल्पना ही वास्तव में असत् है। मनुष्यत्व जैसा कुछ सामान्य होने पर भी हर मनुष्य विशिष्ट ही होता है। उसकी यह विशिष्टता या विशेषताएँ उसे इतर से भिन्न करती हैं। मनुष्यों की यह भिन्नता जिन भेदक तत्त्वों के कारण होती है वे समाज के ही संरचनात्मक तत्त्व होते हैं। इसके विना किसी समाज की कल्पना नहीं होती। समूह के समाज होने की शर्त है कि उसका प्रत्येक सदस्य अहंभाव के साथ-साथ वयंभावयुक्त भी हो। अहंभाव की संकीर्णता वयंभाव को भी संकीर्ण बना देती है। अतः अहंभाव की व्यापकता अपेक्षित है न कि उसका नाश।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किन्तु इस कटु सत्य को स्वीकार करना ही पड़ता है कि अहंभाव की व्यापकता कितनी भी अधिक क्यों न हो वह सर्वव्यापक नहीं होता। संभवतः इसीलिए भारत के प्राचीन ऋषियों ने उसके किसी सर्वव्यापक सत्ता में लीन होने, सर्वव्यापक सत्ता का अंश बनने और अनुभव करने का आग्रह किया है। लेकिन इस आग्रह में आत्मलय या आत्मशून्यता केवल बौद्ध तथा अद्वैत ने स्वीकार की है। इन दोनों दर्शनों के प्रचारकों, आचार्यों, ग्रन्थों, और उपदेशों के वर्षों के प्रयास के बाद भी न तो समाज से भेद मिटे हैं, न संघर्ष रुके हैं और न ही मिटने की संभावना का कोई युक्तिसंगत प्रमाण मिला है। अतः श्री द्राविड़ के इस कथन से कि "आज वेदान्त-सिद्धान्तों के पुनरुज्जीवन की नितान्त आवश्यकता है और इसके लिए एक नये दृष्टिकोण से पुनरध्ययन अपेक्षित है"—सहमत होने का कोई कारण नहीं दिखता (यदि वेदान्त से उनका आशय शांकर वेदान्त से हैं।) शास्त्रीय विवेचना और बुद्धि-विलास हेतु वेदांत का पुनरध्ययन भले ही अपेक्षित हो समाज की उन समस्याओं के समाधान के लिए, जिनका संकेत श्री द्राविड़ ने अपने लेख में किया है, पुनरध्ययन किंचिदपि उपयोगी नहीं है। इसके विपरीत इस विचारधारा के प्रभाव से भारतीय समाज निरन्तर दासता, दीनता और असहाय स्थिति की ओर बढ़ता रहा है। रोगों का ग़लत निदान करने पर दवा ही विष बन जाती है—ऐसा ही भारतीय समाज के साथ होता रहा है।

भारत के ज्ञात इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमारा यह निष्कर्ष सर्वथा अनुचित तो नहीं कहा जा सकेगा। भारत के अतीत में दो ऐसी घटनाएँ घटीं जिनके कारण भारतीय समाज में सांसारिकता, भौतिकता या इहलोकवाद से उदासीन होने की प्रक्रिया को बल मिला। एक तो सम्राट् अशोक का कलिंग-विजय के उपरान्त बौद्ध धर्म के, विशेष रूप से अहिंसा के, अति प्रचार में लग जाना। "अशोक की शांतिवादी नीति ने मौर्य सेना को अनभ्यस्त और दुर्बल और जनता की सैनिक प्रवृत्ति को शिथिल कर दिया। उसने (अशोक ने) सार्वभौमिकता, अन्तर्राष्ट्रीयता और मानववादिता के आवेश में और आग्रह में राष्ट्रीय धर्म, भावना और आचार की ही उपेक्षा नहीं की अपितु उस पर व्यंग्य और समय-समय पर (उसकी) आलोचना भी की। इस नीति ने राष्ट्रीय समता और शत्रुद्वेषी भावना को शिथिल किया जो विदेशी आक्रमण को रोकने की प्रबल शक्तियाँ हैं।"[1] अशोक की इस आत्मघाती नीति की वैदिक प्रतिक्रिया ने प्रजा में अपने समाज व संस्कृति से विमुख होने की प्रक्रिया को रोकने का प्रयास किया। यह प्रतिक्रिया लगभग 7वीं शताब्दि तक चली। इस काल में विदेशी आक्रमण हुए, विदेशी यहाँ बसने भी लगे। यवन, शक, हूण आदि विदेशियों ने अपना भारतीयकरण कर लिया। यह तत्कालीन सामाजिक व सांस्कृतिक संरचना का प्रभाव था। जब अनात्मवादी बौद्धों के प्रभाव और वैदिक जीवन-पद्धति में परस्पर समायोजन हो रहा था, प्रजा अभी पूर्ण रूप से सांसारिकता से विमुख नहीं हुई थी, ऐसे ही समय एक अन्य घटना घटी—शंकराचार्य का अवतार होना।

1. राजबली पांडेय—प्राचीन भारत, पृ. 184-85

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शंकराचार्य ने समस्त भेदों को अज्ञानजन्य, भ्रम और मिथ्या घोषित कर दिया। आत्मा-आत्मा का भेद, आत्मा-परमात्मा का भेद, सब कुछ मिट गया। बौद्धों का अनात्मवाद, शून्यतावाद वैदिक रूप धारण करके 'ब्रह्मवाद' हो गया। प्रबुद्ध आचार्यों ने इनका इतना व्यापक प्रचार किया कि जनता सांसारिक जीवन को तुच्छ मानने लगी, तेरा-मेरा का भेद कम होने लगा, राष्ट्रीयता, वर्ण, संप्रदाय आदि की संकीर्णताएँ ब्रह्म में विलीन होने लगीं। 2-3 सौ वर्षों में समाज की स्थिति ऐसी क्षीण हो गयी कि जब विदेशी, मुगल आक्रांताओं ने 'सोने की चिड़िया' को लूटना शुरू किया तो प्रतिरोध करने वाले केवल कुछ राजा महाराजा ही बचे। सारी प्रजा स्वदेशी-विदेशी की संकीर्णता से मुक्त हो चली थी। परिणाम यह हुआ कि विदेशी जो कभी पश्चिमोत्तर भारत से आगे बड़ी कठिनाई से बढ़ पाते, सारे भारत पर छा गए। विशाल भारत, समृद्ध भारत, महान भारत, दासता के गहरे अंधकार में डूब गया।

हम यह नहीं कहना चाहते कि यह सब कुछ शांकर दर्शन का परिणाम था। लेकिन जब समाज का प्रबुद्ध वर्ग सार्वभौमिक हो जाये, सांसारिकता को अज्ञान घोषित कर दे, भ्रम घोषित कर दे, तो फिर कोई चाणक्य, पुष्यमित्र या चन्द्रगुप्त कैसे उत्पन्न होगा? आत्मा-आत्मा में भेद नहीं, आत्मा-परमात्मा में भेद नहीं, ब्रह्म हो जाना ही जीवन का लक्ष्य हो जाय, तब मेरा देश, मेरा राष्ट्र, स्वधर्म, परधर्म सब व्यर्थ होंगे ही। इस प्रकार की जीवनदृष्टि का तर्कसंगत परिणाम ही 12-13 सौ वर्षों की दासता है। उक्त दासता के महत्त्वपूर्ण सामाजिक निष्कर्षों को ही हम भोग रहे हैं।

यह कहा जा सकता है कि शंकर कर्मविरोधी नहीं हैं। वे केवल इतना कहते हैं कि कर्म मोक्ष का साक्षात् साधन नहीं है। अतः मोक्ष की इच्छा वालों के लिए कर्म-त्याग या कर्म-संन्यास ही उचित है। शेष लोगों के लिए, जो मुमुक्षु नहीं हैं, उनके लिए कर्म का विधान है ही। फिर यह भी मान्यता है कि निर्लिप्त भाव से किये गए कर्म बंधनकारी नहीं होते हैं। निर्लिप्त और निःस्वार्थ भाव से कर्म करने में समाज का हित और समाज का सौख्य है।

यहां कर्म के सम्बन्ध में दो बातों का ध्यान रखना होगा। एक तो यह कि जब तक शरीर है तब तक कर्म अनिवार्य है। अतः कोई भी विद्वान कर्म-विरोधी नहीं हो सकता। यह जानते हुए भी कर्म को बंधनकारी और अज्ञान-जन्य और ज्ञान का विरोधी मानना समाज पर एक विचित्र प्रभाव उत्पन्न करता है। जब कर्मों से मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती, मोक्ष मनुष्य का परम श्रेय है तो कर्म के प्रति उत्साह न होकर उदासीनता या तटस्थता का भाव ही उत्पन्न होगा। इसका परिणाम यह होगा कि वह मनुष्य जो उपर्युक्त मान्यता पर विश्वास (अनुभव नहीं) करता है, केवल अनिवार्य कर्म ही करेगा। मनुष्य के लिए अनिवार्य कर्म केवल जीवन-यात्रा चलाने के लिए आवश्यकता तक ही सिमट जाता है। तब देश-प्रेम, राष्ट्रविरोधी के प्रति द्वेष, समाज-सुधार, राष्ट्ररक्षा आदि के लिए आवश्यक कर्मों के प्रति उत्साह का अभाव हो जाता है। और अंत में यह दूसरी बात है जिसे ध्यान में रखना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होगा कि, सब कुछ भ्रांति ही है, असत् ही है यह धारणा कर्म के लिए प्रेरणा ही समाप्त कर देगी। यह स्थिति तभी स्वीकार हो सकती है जब एक ही समय में समूचा मानव-समाज उदासीन हो जाये। अद्वैतवादी ऐसी संभावना की कल्पना भले ही कर लें, हम इसे एक असंभव स्थिति ही मानते हैं। युक्ति से या प्रमाण से, इस स्थिति की संभावना का निरूपण नहीं किया जा सकता। तब समाज से उदासीन और तटस्थ समुदाय को अत्याचारों का परिणाम भोगना ही पड़ेगा। भारतीय समाज में भी ऐसा ही हुआ। जगन्मिथ्यात्व और कर्म की अनर्थकारी अविद्याजन्यता की धारणा के प्रचार से समाज में व्यक्तिवादी जीवनदृष्टि का विकास हुआ।

सांसारिकता और भौतिक सुख को त्याज्य, हेय घोषित करने का परिणाम भी स्पष्ट है। समाज की बुद्धि का इन क्षेत्रों में प्रयोग न्यूनतर होता गया। मनुष्य स्वरूपतः भोक्ता है। इस स्वरूप की अभिव्यक्ति को व्यवस्थित और संयमित करने के उद्देश्य से स्थापित धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की व्यवस्था चलायी गई थी। लेकिन भोग के हेय घोषित हो जाने से किन्तु स्वरूपतः भोक्तृभाव होने से, भोग की इच्छा में 'ग्लानि' का समावेश हो गया। सामाजिक जीवन में अभेदभावजन्य अस्वाभाविक अति उदारता, सहज भोग की अभिव्यक्ति में ग्लानि और कर्म की अविद्याजन्यता से उपजी व्यक्तिवादिता—इन तीनों अस्वाभाविक अवस्थाओं के साथ संसार की यथार्थता, भोग की स्वाभाविकता और कर्म की अनिवार्यता के अन्तर्विरोध ने व्यक्ति और समाज दोनों ही में कुण्ठा उत्पन्न की। ऐसा समाज स्वयं का न तो विकास कर सकता है और न ही रक्षा। समाज के पलायन की ओर उन्मुख होने के लिए यह एक आदर्श स्थिति थी। इस स्थिति में ईश्वरार्पणता, भक्ति आदि के अतिरिक्त अन्य मार्ग हीं नहीं होता। दसवीं शताब्दी से अंग्रेज़ों के राज्य-स्थापना तक की अवधि में भक्ति-साहित्य का अधिकतम विकास अनायास नहीं था। जीवन में हताशा, कुण्ठा और ग्लानि से मुक्ति का भक्ति से अन्य श्रेष्ठ मार्ग कौन-सा हो सकता है?

यदि यह माना जाय कि दर्शन समाज को प्रभावित करता है, और यह भी कि, अद्वैतवाद का व्यापक प्रचार-प्रसार निरंतर होता रहा है तब यह भी स्वीकार करना होगा कि अनेकता, विषमता आदि से उद्भूत जाति, वर्ण, संप्रदाय, राष्ट्रवाद आदि की निरंतर बढ़ती हुई प्रवृत्तियों में भी उस प्रचार-प्रसार का योगदान रहा है। या फिर यह स्वीकार करें कि समाज पर अद्वैतवाद का कोई प्रभाव पड़ा ही नहीं। अद्वैतवाद यदि भोगवाद का विरोधी है और अद्वैतवादी विद्वानों द्वारा व्यापक प्रचार के बावजूद भोगवाद में वृद्धि ही हो रही है तो इसका अर्थ होगा कि अद्वैतवाद में कोई मूल भ्रांति निहित है। यदि यह कहा जाय कि ऐसा केवल इसलिए हो रहा है क्योंकि लोगों का जीवन अद्वैतदृष्टि-विमुख हो रहा है तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब सभी लोग सुख-शांति-समृद्धि-पूर्ण जीवन चाहते हैं, अशांति, संघर्ष आदि नहीं चाहते तो फिर क्या कारण है कि वे लोक-कल्याणकारी, तर्कसंगत, अनेक विद्वानों द्वारा प्रचारित जीवन-दर्शन को स्वीकार नहीं करते? इसके तीन उत्तर दिये जा सकते हैं—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

1. समाज को अद्वैतवाद की उपयोगिता और महत्त्व समझाया नहीं जा सकता।
2. समाज के लोग अद्वैतवादी जीवनदृष्टि को अपनाने योग्य अभी बने नहीं हैं।
3. समाज ने अद्वैतवादी जीवनदृष्टि को अस्वीकार कर दिया है।

यदि पहला उत्तर है तब इस प्रश्न पर विचार करना अद्वैतवादियों का प्रथम दायित्व है कि ऐसा क्यों है? जो दर्शन भारतीय दर्शन का पर्याय मान लिया गया हो, और जिसका प्रचार-प्रसार दार्शनिकों, दर्शनशास्त्रियों से लेकर समय-समय पर सक्रिय समाज-सुधारक भी निरंतर करते रहे हों, वह दर्शन समाज की समझ में क्यों नहीं आता? कुछ विद्वानों की समझ में आ जाना पर्याप्त नहीं है। समाज की समस्याएँ, संघर्ष, द्वेष आदि की परिस्थितियां, जिनसे समाज अशांत होता है, वे जिनकी हैं उन्हें समझ में आनी चाहिएं। अब या तो हम यह मानें की अद्वैतवाद केवल कुछ विद्वानों के बुद्धि-विलास की सीमा में सिमटा हुआ है या फिर शेष समाज इस योग्य नहीं है कि अद्वैत जैसे गूढ़ दर्शन को समझ कर आचरण कर सके।

यदि यह मान लिया जाय कि समाज अद्वैत-भूमि के अनुकूल नहीं बन पाया है तब फिर यह कहना व्यर्थ है कि अद्वैतवाद में समाज-भेदजन्य समस्याएँ सुलझ जाएंगी, क्योंकि जब तक समस्या-समाधान समाज के स्तर के अनुरूप नहीं होगा वह समाधान वस्तुतः होगा ही नहीं।

तीसरे उत्तर को कम से कम अद्वैतवादी तो स्वीकार नहीं ही करेंगे, जबकि यही सही उत्तर है। मनुष्य कभी भी संसार से विमुख नहीं होना चाहता, संसार में उपलब्ध सुख-भोग को यथासंभव अधिक से अधिक पाना चाहता है। संसार के कथित चक्र से हमेशा के लिए मुक्त होने की कामना भी विषम, विकट और श्मशान-वैराग्य की दशा में भले ही कोई करे, सचमुच ऐसा संकल्प कोई करता होगा यह स्वीकार करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। हां, साधन-चतुष्टय-युक्त व्यक्ति के लिए यह स्वीकार्य हो सकता है, लेकिन इस 'चतुष्टय' की स्वीकृति किसी न किसी रूप में शांकर दर्शन की स्थापना से हज़ारों वर्ष पूर्व से भारतीय समाज में प्रचलित है जबकि समाज की भेद-मूलक समस्याएँ यथावत् हैं।

वास्तव में शांकर दर्शन युक्ति, प्रमाण और सांसारिक अनुभव किसी के भी द्वारा न तो स्थापित होता है और न ही समझा जा सकता है। बौद्धिक क्षेत्र से परे होने के कारण वह केवल आस्था का विषय है। अब सारा मानवीय व्यवहार असत्, मिथ्या, असार अनर्थकारी है—ऐसा जीवित मनुष्य को तो समझाया नहीं जा सकता। शब्द-जाल द्वारा उसे यदि संसार की अनिर्वचनीयता का ज्ञान करा भी दिया जाय तो जीवन में भेद या अनेकता का निरास नहीं होता। यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि व्यवहार में ही समस्त भेद या अनेकता है, तब व्यवहार से परे कोई परमार्थ ऐसा है जिसे प्राप्त करने, जानने या हो जाने पर व्यवहार का बोध हो जाएगा—यह व्यवहार-दशा में अविद्याग्रस्त व्यक्ति को किस प्रकार समझाया जा सकता है? अतः जब तक व्यवहार का, संसार का, निषेध किये

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बिना, यथार्थ अनुभूत अनेकता और भेद को अस्वीकार किये बिना, इनका परमार्थ से सामंजस्य स्थापित करके व्यवहार और परमार्थ के बीच की खाई को न पाटा जाय तब तक समाज, जिसका लक्षण ही अनेकता में सामंजस्य है, के लिए अद्वैत का कोई महत्त्व नहीं होगा। संभवतः इसीलिए शंकर के बाद के वेदान्तियों अरविन्द, विवेकानन्द आदि ने जगत् को शंकर के समान असत् या भ्रांति न कहकर उसकी सापेक्ष सत्यता पर अधिक बल दिया।

सामाजिक परिवर्तन निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। परिवर्तन का परिणाम समाज के घटकों व संस्थाओं की संरचना पर पड़ने वाले प्रभाव से देखा जा सकता है। समाज में होने वाले परिवर्तन का कोई एक कारण है ऐसा नहीं कहा जा सकता, साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि अमुक काल विशेष में ही परिवर्तन के कारक विद्यमान हैं। जो अध्येता समाज में हो रहे परिवर्तनों के कारणों की खोज करना चाहता है उसे निष्पक्ष होना चाहिए। लेकिन अध्ययन यदि उस समाज का किया जाना हो जिसका कि अध्येता स्वयं एक घटक है, तो अध्ययन की आवश्यकता और परिवर्तनों का अध्येता पर प्रभाव अवश्यम्भावी हैं। ऐसा अध्येता अपनी मूल्यदृष्टि के आधार पर अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तन के कारणों का चयन करता है और उसका अध्ययन मुख्यतः अपने पक्ष के अनुरूप होता है। इसे पूर्वाग्रह कहा जाये या व्यक्ति का स्वभाव किन्तु यह एक वस्तुस्थिति है। भारतीय समाज के पराभव को, विकृतियों को और वर्तमान दुरवस्था को समझने का मेरा प्रयास भी इसी तरह पूर्वाग्रहग्रस्त माना जा सकता है। मेरी यह निश्चित मान्यता है कि अभेदवाद, अद्वैतवाद, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद आदि जैसे मोहक शब्दों से काल्पनिक आदर्श और उपदेशों का सृजन भले ही हो जाय, समाज की भेदमूलक समस्याओं का इनसे कोई समाधान नहीं हो सकता। यह निष्कर्ष मानव-समाज के अब तक के इतिहास से प्रमाणित है। तब, भेदजन्य समस्याओं का समाधान कैसे होगा—यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यदि अवसर मिला तो इस पर एक स्वतंत्र लेख फिर कभी। अभी तो इतना ही कहना है कि किसी दर्शन या विचारधारा से मोहित होकर उसके आधार पर समाज की समस्याओं का समाधान खोजने के बजाय समाज की समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में देखते हुए समाधान की खोज करनी चाहिए।

बी. कामेश्वर राव
तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययनशाला
पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर (म.प्र.)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन-गोष्ठी

विषय प्रवर्त्तक — सरला कल्ला

गोष्ठी की यह बैठक 20 सितंबर को श्री यशदेव शल्य के घर पर हुई। इसमें मेरे अतिरिक्त निम्नलिखित ने भाग लिया : प्रोफेसर दयाकृष्ण, डॉ. के. एल. शर्मा, श्री यशदेव शल्य, प्रोफेसर राजेन्द्र स्वरूप भटनागर, डॉ॰ मुकुंद लाठ, डॉ॰ (श्रीमती) योगेश गुप्ता, डॉ॰ (श्रीमती) भगवती राव। इसमें मैंने प्रोफेसर दयाकृष्ण की पुस्तक **प्रोलेगोमेना टू एनी फ्यूचर हिस्टोरियोग्राफी ऑफ कल्चर्स एण्ड सिविलिज़ेशंस्** के प्रथम अध्याय का सारांश प्रस्तुत किया। वह सारांश तथा उस पर उठाये गए कुछ प्रश्न नीचे दिये जा रहे हैं—

अपनी इस पुस्तक में दयाजी सभ्यताओं के इतिहास-लेखन के औचित्य को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं। इन दिनों ऐसे विषयों पर विचार प्रचलन में नहीं है। आजकल क्षेत्रीय इतिहास लिखे जाते हैं, शायद इस पूर्वाग्रह की वजह से कि इसी रूप में इतिहास में वैज्ञानिकता संभव हो पाती है। किन्तु दयाज़ी के मत में चूंकि इतिहास की एक कालावधि एक पूरी सभ्यता के विकास का एक सुदीर्घ भाग होता है, इसलिए चाहे इतिहास के किसी काल को खंडित करके देखना सुविधा की बात हो किन्तु इसमें कोई सैद्धान्तिक औचित्य नहीं है। प्रोफेसर अवध किशोर सरन की टिप्पणी को याद करते हुए वे लिखते हैं कि "जो चिंतन मूल के प्रश्न को विस्मृत करता है वह मौलिक नहीं हो सकता।"

इस पुस्तक में सभ्यताओं के इतिहास को समझने की कई वैकल्पिक दिशाएँ खोली गई हैं लेकिन यह पुस्तक एक प्रस्तावना के रूप में ही लिखी गई है। किसी सभ्यता के अध्ययन में इन दिशाओं को कैसे प्रयोग में लाया जाय, यह कार्य आगे कभी इतिहासज्ञों द्वारा किया जा सकता है। इस पुस्तक में किये गए चिंतन का एक परिणाम यह है कि शिल्प, शास्त्र, संस्कार, पुरुषार्थ, स्मृति, वासना जैसे संप्रत्ययों को, तथा इनके सहारे से मनुष्य और मानवीय सभ्यता को समझने का रास्ता खुलता है। ये संप्रत्यय, जो भारतीय परम्परा में से लिए गए हैं, अपने संदर्भ में बहुत विस्तृत हैं, क्योंकि ये किसी भी सभ्यता को समझने के लिए सार्थक रूप से प्रयुक्त किये जा सकते हैं। यह सारी चर्चा पुस्तक के प्रथम अध्याय में है जिसके कुछ प्रमुख बिंदु इस रूप में देखे जा सकते हैं—

1. सभ्यताओं का इतिहास मनुष्य का इतिहास है इसलिए उसे समझना कठिन है। जैसे मनुष्य के, उसके सृजन के, कई आयाम हैं और उनमें से किसी एक आयाम को महत्त्वपूर्ण या आधारभूत बनाना उसे ठीक से समझना नहीं होता वैसा ही कुछ सभ्यता के वारे में भी कहा जा सकता है। इतिहास कई मनुष्यों से बनता है और काल के लंबे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फैलाव में देखा जाता है। इसलिए 'मनुष्य' और 'काल' ये दोनों ही संप्रत्यय इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रसंग में दयाजी ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि इतिहासकार वस्तुओं, वस्तुस्थितियों, घटनाओं को देश-काल में तो देखते हैं किन्तु स्वयं देश और काल को उस संस्कृति ने कैसे देखा है इस पर अभी तक विचार नहीं किया गया है। हम, जो वर्तमान में एक साथ, एक जगह खड़े हैं उन सबके लिए भी 'अतीत' का रूप एक-जैसा नहीं होता। एक सभ्यता किसी अन्य सभ्यता को कैसे समझे, इस प्रश्न पर तो विचार किया गया है, किन्तु किसी एक ही सभ्यता के भीतर, वर्तमान में खड़े हम अतीत को कैसे समझें, इसकी क्या समस्याएँ हैं, इस पर अधिक चिंतन नहीं किया गया है। प्रत्येक संस्कृति देश व काल को अपनी तरह से देखती है और वह दृष्टि उस संस्कृति में चित्रकला, साहित्य, नाटक, शिल्प, संगीत में अभिव्यक्ति पाती है। इसलिए देश व काल किसी संस्कृति में कैसे संरचित होते हैं, कैसी अभिव्यक्ति पाते हैं, यह समझना उस संस्कृति को समझने का एक तरीका है।

2. देश और काल के अतिरिक्त मूल्यबोध वह आयाम है जो इतिहासकार के सामने कई प्रश्न एवं चुनौतियां खड़ी करता है : मूल्यों के बारे में सैद्धान्तिक स्तर पर कई भिन्न दृष्टियां रखी जा सकती हैं। मसलन, यह कहा जा सकता है कि कुछ ऐसे मूल्य वास्तव में होते हैं जो किसी एक संस्कृति में बार-बार प्रकट होते हैं, हम उन्हीं मूल्यों में कुछ परिवर्तन भी देख सकते हैं। या यह भी कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक कालक्रम में नये मूल्यों का उद्भव या सृजन हो रहा है। इतना तो स्पष्ट है कि मूल्यों में विविधता रहती है, और तब ज़ाहिर है कि उन मूल्यों या पुरुषार्थों के अन्तर्सम्बन्ध पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है। इसके परे देखने की बात यह है कि एक ओर तो मूल्यों के बारे में हमारी सैद्धान्तिक धारणाएँ होती हैं और दूसरी ओर उन मूल्यों के व्यक्तियों और समाजों द्वारा क्रियान्वयन का पक्ष होता है जिसमें बहुत से तनाव उभरते हैं। एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध उभरता है। इसे समझना अपने-आप में एक समस्या है। फिर, मूल्यों का क्रियान्वयन जहां एक ओर कार्य-कारण सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है वहां दूसरी ओर तकनीक की भी अपेक्षा करता है, इसलिए उसमें 'शिल्प' प्रधान बनने लगता है। शिल्प का विकास अक्सर उस शिल्प के बारे में शास्त्र की रचना की ओर ले जाता है। अब यहां एक भिन्न समस्या उठती है। शिल्प में जहां किसी कर्म का सफल निष्पादन ही महत्त्व रखता है वहीं उस शिल्प के शास्त्र में उसका ज्ञानात्मक पक्ष उभरकर महत्त्वपूर्ण बनने लगता है। अब यहीं से कुछ सैद्धान्तिक समस्याएँ विचार का विषय बनने लगती हैं और उस शास्त्र के 'शास्त्र' होने की जो सैद्धान्तिक अपेक्षाएँ हैं वे प्रधान बन जाती हैं। जैसे वहां संगति या वैधता का प्रश्न उठने लगता है जबकि शिल्पकर्म के लिए यह प्रश्न अक्सर प्रासंगिक नहीं होता। रोचक बात यह है कि कई बार ऐसा भी होता है कि शिल्प और शास्त्र समानान्तर चलने लगते हैं। बहरहाल, इतिहासकार को शिल्प, शास्त्र और पुरुषार्थ इन तीनों के सम्बन्ध की व्याख्या करनी चाहिए। मूल्य एक संभावना है जो कई रूपों में कई स्तरों पर वास्तविकता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में ढलती है। किसी संस्कृति का मूल्यबोध जहां सैद्धान्तिक स्तर पर दर्शन या धर्म की पुस्तकों में अभिव्यक्ति पाता है वहीं दूसरी ओर कलाओं में, साहित्य में भाव के स्तर पर अभिव्यक्ति पाता है। फिर इसके आगे वह समाज, कानून, राजनीति में मूर्त्त रूप में अभिव्यक्ति पाता है। हालांकि एक देशकाल में इनमें विविध स्तरों पर विरोध भी हो सकता है किन्तु साथ ही उस विरोध को दूर करने के प्रयास भी होते हैं। ऐसा वास्तव में होता है तभी हम किसी सभ्यता को इकई के रूप में देख पाते हैं।

3. किसी सभ्यता के परिवर्तन के मूल में 'कल्पनाशीलता' का बहुत हाथ होता है। यह तत्त्व कलाओं और शास्त्रों में तो आधार रूप में ही होता है, साथ ही यह मनुष्य की भावनाओं, उसके स्वप्नों को भी दिशा देता है। व्यक्ति कल्पना के सहारे अपना संसार बनाता है, और मज़े की बात यह है कि उसी के लिए वह संसार होता है और वहीं तक होता है जहां तक व्यक्ति की अपनी इच्छा उससे जुड़ी रहती है। जैसे धर्म का, खेल का, कला या ज्ञान का संसार। मनुष्य जिस विश्व में रहता है वहां वह मानो कई व्यक्तियों की कल्पनाओं से उद्‌भूत कई संसारों में स्वयं को पाता है। इतिहास एक तरह से मनुष्य द्वारा ऐसे ही सर्जित संसारों से बनता है। ऐसे में कोई एक संसार यदि प्रधानता पा जाये तो वह उस सभ्यता को खास तरह से निरूपित करने में सहायक होता है। दयाजी ऐसा मानते हैं कि वे क्रियाकलाप, जिन्हें हम सार्थक कहते हैं, जैसे कला या ज्ञान से जुड़े हुए कर्म, इतिहास केवल उन्हीं से नहीं बनता, बल्कि मनुष्यों की इच्छाओं (वासनाओं) से उद्‌भूत संसार, जिसमें यथार्थ या भ्रांति दोनों ही विद्यमान रहते हैं, से भी बनता है। ऐसा भी होता है कि कोई एक 'विश्वास' या 'मत' बहुत प्रभावकारी हो जाता है, चाहे वह भ्रामक ही हो। कई बार इतिहास ऐसी भ्रांतियों की शृंखला दर्शाता है। ये भ्रम जिये जाते हैं, लोगों के क्रियाकलापों में अभिव्यक्ति पाते हैं, इसलिए उन भ्रमों से उत्पन्न परिणाम 'वास्तविक' होते हैं। ये वास्तविक परिणाम आगे किन्हीं अन्य भ्रमों को जन्म देते हैं। इतिहास बनाने में मनुष्य की 'कल्पनाशीलता' का क्या स्थान है, इस पर भी विचार किया जाना चाहिए।

4. किसी एक सभ्यता की पहचान मनुष्य-सृष्ट संसार के पक्षों की प्रधानता-गौणता से भी हो सकती है और दूसरी सभ्यताओं के साथ होने वाले घात-प्रतिघात से भी हो सकती है। कोई सभ्यता जो है, और जो वह दूसरों के संदर्भ में नहीं है, उससे भी उस सभ्यता की पहचान हो सकती है। फिर, एक सभ्यता स्वयं को कैसे देखती है और दूसरों को कैसी दिखाई पड़ती है, उससे भी कुछ तस्वीर बनती है। सभ्यताओं के अध्ययन में यह बात सदैव ध्यान में रखने योग्य है कि एक सभ्यता अन्य सभ्यताओं के साथ अस्तित्व रखती है और उनसे उसका सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता है। उसमें यह भी देखना चाहिए कि कोई सभ्यता दूसरी सभ्यता के किन तत्त्वों को नकारती है और किन्हें रूपान्तरित करती है। इस रूप में सभ्यताओं का तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया जाना चाहिए। किसी एक सभ्यता का फैलाव विचार का विषय है ही, उतना ही ज़रूरी यह देखना भी है कि सभ्यताएँ अपने में सिमटती कैसे हैं?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अपने भीतर लौटने की प्रक्रिया कहीं स्वयं को ठीक से पकड़े रहने की प्रक्रिया होती है, कहीं अपनी पहचान, अपने सातत्य को बनाए रखने की प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में कभी कभी हमारा परिवर्तित मूल्य-वोध स्वयं की संस्कृति को समझने को एक खास दिशा दे देता है; हम अपनी ही संस्कृति या सभ्यता के किन्हीं खास पक्षों को विस्मृत करते हैं। यह विस्मरण कई वार सायास होता है।

5. इतिहासज्ञ अतीत को समझते हुए उसे पुनर्रचित करता है। प्रत्येक पीढ़ी ऐसा करती है। इतिहास की कहानी को नए सिरे से समझती है। यह विचारणीय विषय है कि अतीत को ही अतीत में विचारकों ने कैसे देखा, कैसे उनमें नई संभावनाएँ खोजीं। इतिहास की कोई एक दृष्टि पुरानी, दृष्टि के साथ संवाद स्थापित करती चलती है। हमें विरासत में सृजित संसार और उस संसार को समझने की वैचारिक परम्परा, दोनों ही मिलते हैं, और इससे जुड़ी हुई जीवन-शैली भी मिलती है। ये तीनों बातें आपस में मिलकर इतिहास की समझ को सम्भव बनाती हैं।

6. इतिहास की समझ से जुड़ी हुई कुछ भ्रांतियां हैं जिनसे मुक्त होना आवश्यक है। एक तो यह कि प्रत्येक सभ्यता किसी देश-काल की सीमा से बँधी होती है, दूसरे यह कि वह किन्हीं खास व्यक्तियों से बंधी होती है, और तीसरे, जो अधिक महत्त्व की वात है, वह यह कि किसी सभ्यता के कुछ मूल आधार-तत्त्व होते हैं जो उसके उद्‌भव-काल से विकास के तमाम दौर में बने रहते हैं। किसी सभ्यता की कहानी एक मूल दृष्टि, विचार या बोध के प्रसार की नहीं होती, यह अनेक विचारों और कल्पनाओं का प्रवाह होती है। फिर सभ्यता की कहानी खत्म नहीं हुई है। सभ्यताएँ अतीत में ही नहीं रहीं, वर्तमान में भी हैं और सुदूर भविष्य तक भी फैली रहेंगी। सभ्यताएँ कई मनुष्यों द्वारा युगों तक किये गए सामूहिक प्रयासों की परिणाम हैं। सभ्यताओं ने एक-दूसरी से बहुत कुछ लिया और दिया है। इस रूप में 'सभ्यता का इतिहास' बनता है। किसी एक सभ्यता को अन्यों से पृथक् करके देखने की भी एक दृष्टि होती है, किन्तु एक विचार-पद्धति वह भी हो सकती है जो सभ्यताओं को परस्पर आदान-प्रदान में देखती है। और जैसा कि दयाजी का मानना है, यह एक बेहतर दृष्टिकोण है।

विषय के इस प्रस्तुतीकरण के पश्चात् कुछ प्रश्न उठे, गोष्ठी के पश्चात् दयाजी ने कुछ प्रश्नों के उत्तर दिये, कुछ प्रश्नों को नये सिरे से रखा। मैंने कुछ प्रश्न रखे—

1. ऐसा लगता है कि सीमित और बृहत् इतिहास के बीच का भेद कालीय या देशीय विस्तार को लेकर ही नहीं है अपितु इनमें प्रकार-भेद भी दिखाई पड़ता है, जिसमें विषयवस्तु व पद्धतिविषयक दोनों प्रकार के भेद निहित हैं। आज तक सभ्यताओं के जो इतिहास लिखे गए हैं आपकी प्रस्तावनाएँ दो तरह से उनसे आगे जाती हैं। एक तो आप 'सभ्यता' नहीं अपितु 'सभ्यताओं के समग्र इतिहास' की बात करते हैं। दूसरे, इतिहास को दार्शनिक दृष्टिकोण से देखने की अपेक्षा रखते हैं, जैसे पुरुषार्थ, शिल्प व शास्त्र के अन्तर्सम्बन्ध को देखने का प्रयास और देश-काल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की वह संरचना जो विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न रूप की होती है आदि आदि। क्या इतिहासकार दार्शनिक की भूमिका में रहकर इतिहास लिखे? फिर आपके मत में अच्छे इतिहास-लेखन की कसौटी क्या होगी?

2. इतिहास का जिज्ञास्य निर्विवाद रूप से 'सत्य' ही हो सकता है। जैसा कि आप कहते हैं 'विगत का सत्य', हमारे मूल्य-बोध, अतीत के साक्ष्यों के चयन, वस्तुस्थितियों के निरूपण और विगत की जीवन-शैली की समझ, सभी को प्रभावित करता है। फिर ऐतिहासिक 'सत्य' का स्वरूप क्या होगा? इतिहास की समझ में यह एक सनातन प्रश्न आपके प्रस्तुतीकरण से और भी गहराता जान पड़ता है।

3. इतिहास की समझ में आपको मूल तक जाना ज़रूरी लगता है। दर्शन के बारे में आपकी ऐसी दृष्टि रही हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। इसकी क्या वजह है? क्या आप मानते हैं कि ऐसा इसलिए है कि इतिहास का मूल पहले से ही है जिसे खोजना भर होता है, परन्तु दर्शन में मूल का चयन किया जा सकता है?

4. आप समझते हैं कि संस्कृति वैचारिक जगत्, कला-जगत् या जिनमें जीवन-मूल्य चरितार्थ होते हैं उन्हीं से नहीं बनती अपितु भ्रांतियों से या ऐसे मनुष्य-सृजित संसारों से भी बनती है जिनमें भ्रम व यथार्थ घुलेमिले रहते हैं, या जो मनुष्य की इच्छाओं, वासनाओं से उद्भूत संसार हैं, उनसे भी बनती है। किन्तु इसीके भीतर से सार्थक और निरर्थक का भेद भी तो उपजता है? बल्कि अधिकतर तो यही समझा जाता है कि जो कुछ घटता है उसमें जो सार्थक है उसे ही 'संस्कृति' नाम दिया जाना चाहिए।

दयाजी ने कहा कि उन्होंने इतिहास-लेखन की कई दिशाएँ प्रस्तावित की हैं। इनमें से कुछ ऐसी हैं जिन पर पहले कभी विचार नहीं किया गया है। यह भी ठीक है कि ऐसा इतिहास सीमित इतिहास से कुछ भिन्न तरह का ही होगा। जहां तक विभिन्न इतिहास-लेखनों में अच्छे-बुरे की कसौटी का प्रश्न है तो यही कहा जा सकता है कि उनके द्वारा प्रस्तावित कोई एक दिशा से किये गए किन्हीं दो लेखनों में तो चयन किया जा सकता है किन्तु भिन्न तरह के इतिहास-लेखनों के बीच कौनसा ठीक है इसे देखना मुश्किल है। जैसे चित्रकला की दो शैलियों में से कौनसी श्रेष्ठ है, यह देखना मुश्किल है। प्रश्नों की जिस शृंखला को सामने रखकर इतिहास लिखा जा रहा है उसके स्वरूप से ही यह तय होगा कि कौन सा लेखन ठीक है। जहां तक ऐतिहासिक सत्य के स्वरूप का प्रश्न है तो वह समस्या इतिहास ही नहीं मनुष्य के सभी सृजनों के बारे में एक जैसी है। फिर सत्य का प्रश्न सांस्कृतिक इतिहास के भिन्न-भिन्न पहलुओं में भिन्न-भिन्न तरह से उठता है जिसका सर्वसामान्य उत्तर देना सम्भव नहीं है। दयाजी ने स्वीकार किया कि दर्शन में उन्होंने कभी मूल तक जाने की बात नहीं की, बल्कि वे इसका प्रतिवाद ही करते रहे हैं। किन्तु इतिहास-बोध के लिए उन्हें यह निश्चय ही ज़रूरी लगता है। दर्शन का क्षेत्र अपेक्षाकृत विचार-स्वातंत्र्य की गुंजाइश रखता है, हालांकि उन्हें कुछ ऐसा लगता है कि दर्शन के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वैचारिक इतिहास को भी नये सिरे से, अधिक सजग दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। मुकुंद जी ने प्रश्न उठाया कि 'ऐतिहासिक बोध की किसी संस्कृति को आवश्यकता ही क्या है? जो सिद्ध है वह किस रूप में मेरे साध्य के प्रश्न पर प्रकाश डालता है? बातचीत के दौरान यह प्रश्न बीच में कहीं उलझ गया। 'संस्कृति' शब्द के प्रयोग के बारे में उन्होंने कहा कि हालांकि इसे 'कल्चर' का अनुवाद समझा जाता है पर यह ठीक वही नहीं है। दयाजी ने 'कल्चर' शब्द का जिस तरह से प्रयोग किया है वह 'संस्कृति' शब्द के प्रयोग से भिन्न सा ही लगता है, क्योंकि वे 'कल्चर' और 'सिविलिज़ेशन' के अन्तर को इस रूप में भी देखते हैं कि यह चेतना की आत्मचेतन चेतना की ओर गति है। किन्तु इस विषय पर चर्चा पुस्तक के अन्तिम अध्याय में हुई है इसलिए इसे आगे की किसी गोष्ठी में विचारार्थ छोड़ दिया गया।

सरला कला
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पुस्तक समीक्षा

परमार्थदर्शनम्, लेखक—म. म. पंडित रामावतार शर्मा, अंग्रेज़ी में विस्तृत पुस्तक-परिचय प्रो. गोविन्दचंद्र पांडे, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, मूल्य रु. 300/-

स्व. पंडित महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा एक असामान्य प्रतिभाशाली चतुरस्र विद्वान थे। जिन विद्वानों—गंगाधर शास्त्री तथा मानवल्ली जैसों से उन्होंने भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया था उन सबसे वे कहीं आगे निकल गये थे। इस सदी के प्रारम्भ में वाराणसी में एक से एक उच्च कोटि के विविध शास्त्रज्ञ विद्वान रहते थे। इनमें गंगाधर शास्त्री, दामोदर शास्त्री, तांत्या शास्त्री आदि विद्वान शीर्षस्थ माने जाते थे। सम्पूर्ण भारत में इन विद्वानों का बोलबाला था। रामावतार जी इन सभी विद्वानों के घनिष्ठ सम्पर्क में रहते हुए भी उनके समान केवल दार्शनिक नहीं बने रहे। वे उच्च कोटि के कवि भी थे। अपनी समकालीन **सूक्तिसुधा** नामक संस्कृत पत्रिका में रामावतार जी ने अनेक कविताएँ प्रकाशित की थीं। इन कविताओं में **मारुति शतक** नामक एक अनुप्रास-प्रधान संस्कृत काव्य है जिसे पढ़ने पर रामावतारजी की असाधारण काव्य-प्रतिभा का परिचय मिलता है। इस काव्य के पहले ही पद्य की पंक्तियाँ रामावतार जी के संस्कृत-भाषा प्रभुत्व को प्रकट करती हैं। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

भिल्ली धम्मिल मल्ली परिमलिनि
दरोत्फुल्ल काँपिल्ल वल्ली।
हल्लीशोल्लास मल्ले मरुति सति
सरिल्लोल कल्लोल वेल्ले।
झिल्ली क्षुल्लान् प्रचुल्लान् लघु-
रजनिचरान् लीलयोल्लोठ्य नर्दन्।
लेखानुल्लंघयन् सन् . . . मारुतिः पातु नित्यम्॥

रामावतारजी का पांडित्य संस्कृत तथा भारतीय दर्शनों तक ही मर्यादित नहीं रहा। उन्होंने अंग्रेज़ी तथा अन्य अनेक पश्चिमी भाषाओं का भी अध्ययन किया तथा अंग्रेज़ी में अनेक व्याख्यान दिये और लेख भी लिखे थे। प्रस्तुत पुस्तक में भी उनके अंग्रेज़ी लेख संगृहीत हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने रामावतार जी को 'गोपाल वसू मल्लिक' प्राध्यापक-पद अलंकृत करने के लिए बुलाया था। पटना, वाराणसी आदि नगरों के विश्वविद्यालयों में भी रामावतार जी प्राध्यापक रहे। जबकि परम्परानुयायी भारतीय पंडितों को पश्चिम में हो रहे वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा उन पर आधृत वैज्ञानिक सिद्धान्तों का पता तक नहीं था (और आज के भी परंपरानुयायी पंडितों में शायद ही कोई हो जो विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी रखता या रखना चाहता हो) तब रामावतारजी ने विज्ञान का गहन अध्ययन किया और उसके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रस्तुत पुस्तक में समावेश किया। वे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अंधविश्वासों तथा तर्कतः असमर्थनीय अदार्शनिक तथा दार्शनिक विचारों के नितान्त विरोधी थे। शब्द-प्रमाण को स्वीकार करते हुए भी वे वेदों के स्वतःप्रामाण्य-सिद्धान्त के विरोधी थे। ऐसे अनेकानेक विचारों का उल्लेख कर प्रस्तुत पुस्तक में रामावतारजी ने उनका खंडन किया है। अपने स्वतंत्र, मौलिक दार्शनिक चिंतन का उद्‌भावन करने के लिए इस पुस्तक में रामावतार जी ने प्राचीन दार्शनिक विचार-प्रस्तुतीकरण पद्धति ही अपनायी है। इस पद्धति के अनुसार किसी भी दर्शन-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य अपने दर्शन के सिद्धान्तों को सूत्र रूप में प्रस्तुत करते हैं। कुछ आचार्य वार्त्तिक के रूप में भी (जैसे धर्मकीर्ति का **प्रमाण वार्त्तिक** या कुमारिल का **श्लोक वार्त्तिक**) अपने मौलिक विचार उपस्थित करते हैं। इन सूत्रों या वार्त्तिकों पर कभी-कभी स्वयं आचार्य ही या अन्य विद्वान् भाष्य के रूप में विस्तृत व्याख्या लिखते हैं। इन व्याख्याओं पर भी व्याख्याएं लिखी जाती रही हैं। ये भाष्य या व्याख्याएं सूत्रों का स्पष्टीकरण मात्र नहीं होतीं। सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण करते हुए ही व्याख्याकार अपने मौलिक विचारों को भी सूत्रगत विचारों की समीक्षा के रूप में प्रस्तुत करता था। इस पुरातन काल से चली आ रही दार्शनिक ग्रंथ-लेखन पद्धति को अपनाकर रामावतारजी ने **परमार्थदर्शनम्** ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ के सूत्र, भाष्य, वृत्ति तथा वार्त्तिक इन सभी की रचना स्वयं रामावतार जी ने की थी। ग्रंथ की भाषा की प्रगल्भता को देखते हुए हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि प्राचीन काल के सूत्र, भाष्य तथा वार्त्तिकों की रचना-प्रणाली को रामावतार जी ने पूर्णतया आत्मसात् कर लिया था। काव्य की भाषा पर रामावतार जी का जितना प्रभुत्व है उतना ही शास्त्रीय गद्य भाषा पर भी उनका प्रभुत्व इस ग्रंथ में सर्वत्र दिखाई देता है।

सभी भारतीय दर्शनों (आस्तिक तथा नास्तिक) पर रामावतार जी ने दोषारोपण किया है। उनके विचारानुसार किसी भी दर्शन का ईश्वरवाद तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। ईश्वर को नैयायिक विश्व का निर्माता मानते हैं जैसे घटपटादि के निर्माता कुम्हार, जुलाहा, आदि होते हैं। किन्तु विश्व अनादि तथा अनन्त है। इसमें आंशिक परिवर्तन होते रहते हैं किन्तु यह प्रवाह अनादि तथा अनंत है। ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं है तो उसके विश्व-निर्मातृत्व की बात करना भी व्यर्थ है। ईश्वर के समान आत्मा का अस्तित्व भी रामावतार जी स्वीकार नहीं करते। शरीर में जीवात्मा की शरीर-व्यापी स्थिति होती है जिसके फलस्वरूप शरीर के सब क्रियाकलाप घटित होते हैं, यह विचार रामावतारजी को मान्य नहीं है। शरीर-घटक इन्द्रियों, कोशिकाओं आदि के समुच्चय का धर्म ही आत्मारूप से पहचाना जाना चाहिये। इस आत्मा का शरीर की मृत्यु के साथ ही पूर्ण विनाश हो जाता है। शरीरांतर्गत विभिन्न अंगों के समायोजन से स्वतंत्र कोई आत्मा की सत्ता नहीं है। मन भी कोई स्वतंत्र अंतरिन्द्रिय नहीं है। मस्तिष्क में जो असंख्य नाड़ी-पुंज है उसीको सामान्य लोग 'मनो' रूप इन्द्रिय समझते हैं। शरीर-पात के साथ मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के ऐहिक जीवन की समाप्ति हो जाती है। पुनर्जन्म, जन्म-जन्मांतर तथा इस जन्म-मरण-प्रक्रिया से एक बारगी छुटकारा—जिसे दार्शनिक लोग मोक्ष कहते हैं तथा जीवन का परमोच्च लक्ष्य मानते हैं—यह सब कल्पना की उड़ानें हैं। धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप एवं इनसे उत्पन्न अदृष्ट, ये भी काल्पनिक बातें ही हैं। इस कारण सत्कर्म से स्वर्ग की प्राप्ति, असत्कर्म से नरक में पतन जैसी बातें भी निराधार कल्पना मात्र हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

रामावतारजी ने न्याय दर्शन के समान ही साँख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध, जैन आदि दर्शनों का भी खंडन किया है। इसके लिए उन्होंने विशेष प्रबल तर्क नहीं प्रस्तुत किये हैं। जैसे साँख्य दर्शन का खंडन करने के लिए रामावतारजी को यह तर्क पर्याप्त प्रतीत होता है कि 'यह दर्शन, प्रकृति में गुण-त्रय की साम्यावस्था से विषमता की अवस्था कैसे अकस्मात् घटित होती है' यह नहीं बतला पाता। योग के खंडन के लिए समाधि और विविध सिद्धियों आदि को असंभव कह देना ही रामावतार जी पर्याप्त मानते हैं।

इस प्रकार सभी भारतीय दर्शनों के मूलभूत सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए भी रामावतार जी विज्ञान-रूप परम तथा समग्र विश्व के मूलभूत तत्त्व की कल्पना का पुरस्कार करते हैं। इस तत्त्व का ही जड़ तथा चेतन सृष्टि के रूप में रूपान्तर होता है ऐसा वे कहते हैं। यह कल्पना अंशतः अद्वैत वेदान्त के ब्रह्मवाद से सादृश्य रखती है। ब्रह्मवाद से इस कल्पना में फर्क यह है कि रामावतार जी जड़-चेतनमय विश्व को ब्रह्मवादियों के समान प्रतिभासात्मक नहीं मानते। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वे अन्य दर्शनों के समान चार्वाक दर्शन के विचारों का भी—जो बहुत कुछ जड़वादी तथा इहवादी वैज्ञानिक विचारधारा से समानता रखते हैं—खण्डन करते हैं।

परमार्थदर्शनम् के उपर्युक्त अति संक्षिप्त विवरण से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस अत्यन्त मौलिक ग्रंथ में रामावतारजी ने आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में एक इहवादी तथा लौकिक एवं सुसंस्कृत जीवन-दृष्टि का उद्भावन किया है। अब विचारणीय यह है कि क्या यह दृष्टि सुसंगत तथा संतोषदायक है? यदि आत्मा का शरीरातिक्रामी अस्तित्व नहीं है तो उक्त विचारों का साग्रह प्रतिपादन करने वाले रामावतार जी स्वयं क्या हैं? यदि वे अपने शरीरांतर्गत विभिन्न अंगों के संघात मात्र हैं तो इन अंगों में घटित होने वाली विभिन्न भौतिक, रासायनिक आदि प्रक्रियाओं के जैसा ही उनके दार्शनिक सिद्धान्तों तथा उनके प्रतिपादन को मानना होगा। इन सिद्धान्तों की सत्यासत्यता का प्रश्न ही तब उपस्थित नहीं किया जा सकता। यही नहीं, इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन, उनका समर्थन, उसके लिए ग्रंथालेखन आदि क्रियायें एक शारीरिक अंगों का संघात अपने और अपने जैसे अन्य संघातों के सम्बन्ध में कैसे कर सकता है, इस प्रश्न का संतोषदायक उत्तर देना आवश्यक होगा। यह मान लिया जा सकता है कि स्वयंचालित यांत्रिक क्रियाओं के समान विचार, विवेचन, प्रतिपादन जैसी क्रियायें शरीराधारित होते हुए भी शरीर द्वारा निर्धारित होती हैं। लेकिन इन क्रियाओं को विचार, सिद्धान्त आदि के रूप में जो अर्थ प्राप्त होता या दिया जाता है उसका स्पष्टीकरण कैसे किया जाय और कौन यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत करे? क्या कोई अन्य शरीर यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर सकता है? यदि हाँ, तो इस स्पष्टीकरण की क्रिया-प्रतिक्रिया को भी कैसे अर्थ प्राप्त होगा या दिया जा सकेगा? यही नहीं, सभी वैचारिक स्पष्टीकरण प्रतिज्ञप्ति-रूप होते हैं और कोई भी प्रतिज्ञप्ति प्रतिज्ञप्ति-कर्त्ता के बिना अर्थपूर्ण नहीं हो सकती। यह कर्त्ता यदि शरीर ही है तो शरीरगत कर्तृत्व या कर्तृत्व-भावना एक प्रकार की (शरीरिक) रासायनिक प्रक्रिया ही होगी। तब उक्त प्रतिज्ञप्ति का स्वरूप एक प्रकार की रासायनिक प्रक्रिया का अन्य रासायनिक प्रक्रियाओं में उलझना मात्र ही होगा। लेकिन प्रत्येक शरीर के विनाश के साथ उसकी रासायनिक प्रक्रिया-स्वरूप घटित दार्शनिक सिद्धान्त भी पूर्णतया नष्ट हो जाना अनिवार्य है। ऐसी हालत में कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त एक स्थायी, बहुजन-सम्मत, अर्थपूर्ण तथा शाश्वत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सत्य के रूप में कैसे स्वीकार्य होगा? जैसाकि शङ्कराचार्य ने आत्म की अनिवार्य सत्ता के स्वरूप को विशद करते हुए अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में एक प्रसंग में कहा है "य एव निराकर्त्ता स एव तस्य स्वरूपम्" आत्म की सत्ता का निरास करने वाला, ऐसा निरास करते हुए ही आत्म-सत्ता को प्रस्थापित करता है क्योंकि उक्त निरास या निषेध के लिए भी पूर्वाभ्युपगम के रूप में आत्मसत्ता का पुरस्कार आवश्यक है।

आत्मा, मन, अदृष्ट, धर्माधर्म, कृत-प्रणाश, अकृताभ्यागम, पुनर्जन्म, वंध, मोक्ष आदि सभी आध्यात्मिक या अलौकिक तत्त्वों का अस्वीकार करते हुए भी रामावतार जी चार्वाक मत-प्रणाली का कैसे तिरस्कार कर सकते हैं यह समझ में नहीं आता। यदि कोई चार्वाक मतानुयायी रामावतार जी से पूछे कि कोई सदाचारी क्यों बना रहे, क्योंकर सब प्रकार से संयत जीवन बिताये, क्यों लोक-कल्याण की भावना से कोई कार्य करे, तो इन प्रश्नों का कोई संतोषदायक उत्तर इस ग्रंथ में नहीं मिलता। जितना दैहिक सुख एक सज्जन को सदाचारण से प्राप्त होता है उससे कहीं अधिक दैहिक सुख दुराचारियों को दुराचरण से प्राप्त होता है। दुराचरण का ऐहिक परिणाम शायद ही दुःखद होता हो जबकि सदाचारी लोग अधिकतर दुःखमय जीवन ही बिताते दिखाई देते हैं। दुराचरण और सदाचरण इनसे प्राप्त होने वाले सुखों की तुलना कर एक को निकृष्ट और दूसरे को उत्कृष्ट ठहराना भी कोई मतलब नहीं रखता क्योंकि रामावतार जी सभी सुखानुभूतियों (या अनुभूति मात्र को) शारीरिक ही मानते हैं। अनात्मवादी तथा लौकिक जीवनवादी सभी विचारधाराओं की यह बड़ी न्यूनता है कि वे सुसंस्कृत मनुष्य-जीवन के निर्धारक नैतिक तथा अन्य निकषों की उत्कृष्टता तथा अनिवार्यता का संतोषदायक स्पष्टीकरण नहीं दे सकते।

—नारायण शास्त्री द्राविड़
प्रोफेसर कालोनी, हनुमान नगर, नागपुर।

मुख्य भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन-धाराएँ, यशदेव शल्य एवं भगवती, लाठ सर्वोदय ट्रस्ट ग्रन्थमाला-3, दर्शन-प्रतिष्ठान, जयपुर, 1997, पृ. 147, मूल्य 250/- रुपये।

समीक्षाधीन पुस्तक **मुख्य भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएँ** तुलनात्मक परिवेश में दो पृथक् संस्कृतियों की कुछ चिन्तनधाराओं की प्रस्तुति का एक मौलिक प्रयास है जिसके द्वारा लेखकद्वय—श्री यशदेव शल्य तथा डॉ॰ भगवती ने मूलगामी चिन्तन की पृष्ठभूमि में उन दर्शनधाराओं के तत्त्व-मीमांसीय प्रत्ययों के सम्बन्ध में अपने विश्लेषण एवं समीक्षा को इस तरह आबद्ध किया है कि यह पुस्तक अन्य विवरणात्मक परिचय-ग्रन्थों से पृथक् अपनी पहचान रखती है।

शल्यजी एक मूलगामी तत्त्व-चिन्तक हैं और दार्शनिक मनीषियों की परंपरा में 'आत्म-प्रत्यय की समग्रता में विचारों की प्रस्तुति उनके प्रतिपादन का मूल सूत्र है। 'आत्म-प्रत्यय की समग्रता' से संभवतः मोटे तौर पर उनका तात्पर्य आत्म का कर्मरूप, ज्ञानरूप तथा स्वयं-प्रकाशरूप तीनों प्रत्ययों की सैद्धान्तिक संभावनाओं की अन्वीक्षा तथा उसके आधार पर आत्म में अनात्मांश तथा अनात्म में आत्मांश की सम्यक् व्याख्या के साथ आत्म के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अतिक्रामी रूप की संभावना की स्पष्ट प्रस्तुति से है। समीक्षाधीन पुस्तक की केन्द्रीय दृष्टि भी यही है।

शल्य जी भारतीय चिन्तन-परंपरा को मूलतः आध्यात्मिक मानकर और दर्शन को मूलगामी ज्ञान की विधा मानकर तद्विषयक चिन्तन को आगे बढ़ाने के अपने योगदान के लिए ख्यातिलब्ध हैं, किन्तु उनकी एक महती उपलब्धि डॉ॰ भगवती जी हैं जिन पर हम गर्व कर सकते हैं। भगवती जी द्वारा लिखे अध्यायों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शल्य जी ने अपने विचारों को जिस तरह से उनमें ढाला है और भगवती जी ने जिस तरह उन्हें आत्मसात् किया है वह एक अनुपम दृष्टान्त है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि समीक्षाधीन पुस्तक के अनेक विचार श्री शल्य जी के पूर्व प्रकाशित ग्रन्थों यथा—**सत्ताविषयक अन्वीक्षा, मूल्यतत्त्व-मीमांसा,** चिद्विमर्श एवं उनके अन्य पूर्व प्रकाशित लेखों में विमर्शित हो चुके हैं और इस पुस्तक की दृष्टि मूलतः उन ग्रन्थों की शल्यीय दृष्टि ही है। किन्तु यह पुस्तक उपर्युक्त ग्रन्थों एवं लेखों से इस अर्थ में अपना विशिष्ट स्थान रखती है कि इसकी अपनी विषय-वस्तु और अपना स्वतंत्र प्रयोजन दो भिन्न संस्कृतियों की चिन्तनधाराओं को तुलनात्मक परिवेश में प्रस्तुत करना है।

समीक्ष्य पुस्तक में कुल दस अध्याय हैं जिनमें सातवाँ—'जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद' तथा दसवाँ 'समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण' शल्यजी द्वारा तथा शेष 1. ऐतरेय उपनिषद् : रूपक का तात्पर्य, 2. तैत्तिरीय उपनिषद् की तत्त्व-दृष्टि, 3. साँख्य, 4. शांकर अद्वैतवाद, 5. वसुबन्धु का विज्ञानवाद, 6. अपोहवाद, 8. डेकार्ट तथा 9. एम्मेनुएल कान्ट भगवतीजी के द्वारा लिखित हैं। यह स्पष्ट है कि पुस्तक कुछ युग-प्रवर्तक विचारकों और विचारधाराओं का इतिहासपरक विवरण न होकर एक चिन्तक द्वारा अन्य चिन्तकों को समझने और उनके विचारों के सर्वेक्षण का एक गंभीर प्रयत्न है। फिर भी, यह जिज्ञासा कि आख़िर उपर्युक्त चिन्तनधाराओं को ही क्यों सम्मिलित किया गया है अन्यों को क्यों नहीं, उत्पन्न होती है। मेरी समझ में शल्य-दर्शन का मुख्य प्रयोजन ऐसे अध्यात्मवादी चिन्तन को स्थापित करना है जिसमें आत्मा के संसारावतरण की व्याख्या उसके अतिक्रामी रूप की व्याख्या के साथ संगत ढंग से की जा सके। अनात्म के आत्मांश एवं आत्मा के अनात्मांश की आत्मा के अतिक्रामी रूप के साथ व्याख्या उनकी केन्द्रीय समस्या रही है। यह समस्या वैसे तो सभी तत्त्व-मीमांसीय दर्शनों में मुख्य होती है किन्तु इस पुस्तक की योजना के अनुसार भारतीय दर्शन में उपनिषद्, साँख्य, शांकर वेदान्त, बौद्ध विज्ञानवाद, जैन तथा पाश्चात्य दर्शन में डेकार्ट एवं कान्ट में यह केन्द्रीय प्रतिपाद्य रहा है। संभवतः यही कारण है कि इस पुस्तक में इन दर्शनों को विचार के केन्द्र में रखा गया है, यद्यपि इसका विस्तार अन्य दर्शनों तक करने की सभी संभावनाएँ हैं। इसी योजना के अनुसार शल्यजी ने अंतिम अध्याय 'समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण' को संभवतः सम्मिलित किया है। इस अध्याय में उनका प्रयास यह दिखाना है कि तत्त्व-मीमांसा को निरस्त करने के अपने प्रयास में समकालीन अनुभववादी स्वयं एक तरह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की तत्त्व-मीमांसा तो गढ़ते ही हैं साथ ही तात्त्विक आधार के बिना उनका चिन्तन निरर्थक हो जाता है। इस प्रकार, उपर्युक्त अध्यायों का ग्रन्थ में संकलन प्रयोजनपूर्वक है।

प्रथम लेख 'ऐतरेय उपनिषद्—रूपक का दार्शनिक तात्पर्य' इस पुस्तक में सम्मिलित अन्य लेखों की अपेक्षा आकार में सबसे छोटा है। पाठक को इस उपनिषद् के समस्त रूपकों का दार्शनिक तात्पर्य समझने की अपेक्षा होती है। अध्यात्मवादी दर्शन में अमूर्त प्रत्ययों को समझने के लिए रूपकों का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। चिन्तन के क्रम में भगवतीजी 'स्वरूप में क्रम' (पृ. 1), 'भाव में क्रम' (पृ. 7), काल में क्रम नहीं, की एक नई उद्‌भावना देती हैं। वे लिखती हैं, **'संक्षेप में इस उपनिषद् का प्रतिपादन यह है कि सत् अतिक्रामी, एक और अखण्ड है, वह अस्तित्व और ज्ञान दोनों से पहले, काल में पहले नहीं स्वरूप में पहले, है और यही एक आद्य सत् ज्ञाता, ज्ञान और विषय के रूप में विभक्त हो जाता है (पृ. 1)**। 'भाव में' या 'स्वरूप में' पहले या बाद का तात्पर्य क्या है? इसका स्पष्ट विवरण पुस्तक में नहीं है। किसी ऐसी युक्ति को भी प्रस्तुत नहीं किया गया है जो इसे पुष्ट करे। पहले-बाद का नैसर्गिक सम्बन्ध काल से होने तथा स्वयं स्वरूप एवं भाव में भी क्रम का अवबोध काल से पृथक् न होने से इस उद्‌भावना का प्रयोजन स्पष्ट नहीं हो पाता जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए स्वरूप या भाव में क्रम की बात कही गयी है। काल में क्रम मानने पर भी उसकी सिद्धि अविरुद्ध होगी, क्योंकि अद्वैत में स्वरूप में या काल में क्रम की बात भी केवल उपाय-बुद्धि या विश्लेषण-बुद्धि मात्र से होती है। भाव में भी जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, ह्रसते, विनश्यते आदि की बात कालानुक्रम में ही उठाई जाती है। स्वरूप में पहले-बाद की बात द्वैत को उत्पन्न करेगी और चक्रक दोष भी उत्पन्न करेगी, क्योंकि क्रम की बात व्यवहार-सापेक्ष ही होती है।

द्वितीय अध्याय **तैत्तिरीयोपनिषद्** के तत्त्व-मीमांसीय, ज्ञान-मीमांसीय एवं मूल्य-मीमांसीय विचारों का अत्यन्त नपा-तुला सार प्रस्तुत करता है। आरम्भ में भगवतीजी ने 'संहिता' की व्याख्या की है जो द्वैताद्वैत, या यों कहें संघाताद्वैतपरक हो गयी है जबकि उनकी तात्त्विक व्याख्या अखण्डाद्वैतपरक है। संहति को अखण्ड मानकर काल्पनिक या विश्लेषणपरक पक्षों के संघात के रूप में खण्डसंघात रूप में समझा जा सकता है और ऐसा इस उपनिषद् (जो अखण्ड को सच्चिदानन्द मानता है तथा उससे उपहित रूप में सन्मय, चिन्मय तथा आनन्दमय रूप जगत् की अद्वैती व्याख्या करता है) के अद्वैतवाद के साथ संगत भी होगा। विज्ञान की विषयीविषयभाव रूप में क्रियान्विति ही 'विज्ञानमय' शब्द से जानी जाती है। इस अंतर को उपनिषदों में एवं भगवतीजी की व्याख्या में भी स्पष्ट किया गया है। ब्रह्म को 'ज्ञानात्मक' शब्द से संबोधित करना भ्रामक है, क्योंकि वह तो ज्ञान ही है, विज्ञानमय नहीं।

जगत् के आविर्भाव को विद्वान लेखिका ने ब्रह्म-संकल्प के रूप में दिखाते हुए ब्रह्म की स्वयं-प्रकाशरूपता के साथ उसके संकल्प को क्रियात्मक चैतन्यरूप में तथा जगत् को अपने कर्त्ता के लिए भावाभाव के रूप में प्रतिपादित किया है (पृ. 8)। उनकी इस व्याख्या पर काश्मीर शैव-दर्शन का स्पष्ट प्रभाव दीखता है। इसे हम लेखिका का अपना दृष्टिकोण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी मान सकते हैं क्योंकि वे जगत् की व्याख्या शल्य-दर्शनानुसारी भावात्मक दृष्टि से करती हैं। यह दृष्टिकोण उपनिषद् के दृष्टिकोण के अधिक नज़दीक है। मूल्य-मीमांसीय दृष्टि से भी अभाव के परित्यागपूर्वक भाव की ओर उत्क्रमण की संभावना तभी ठीक से बनती हैं जब जगत् को भावाभाव रूप में लें।

तृतीय लेख साँख्य दर्शन पर है। साँख्यीय द्वैतवाद की जो व्याख्या इस लेख में है वह सैद्धान्तिक दृष्टि से पूर्णतः संगत एवं साँख्य पर होने वाले अनुसंधानों के लिए आधार प्रस्तुत करने वाली है। व्याख्याकारों एवं टीकाकारों के आलोक में साँख्य पर जो अन्य अनुसंधान छपे हैं उनमें साँख्यीय द्वैतवाद को या तो अद्वैतवाद के समान पुरुष को सृष्टि की मुख्य पृष्ठभूमि में रखकर देखा गया है या प्रकृति के वास्तविक परिमाण को मानकर देखा गया है। उनसे भिन्न भगवतीजी ने दोनों—प्रकृति एवं पुरुष— को निरपेक्ष तत्त्व मानकर दोनों की स्वतंत्रता पर विना किसी प्रहार के अनात्म-रूप प्रकृति को आत्मोपाधि से उपहित मानकर आत्मस्वरूप की व्याख्या की है। प्रधान से पंचमहाभूत पर्यन्त प्रकृति का परिणाम जगत् और उसमें आत्मभाव का आरोप मनुष्य का जगद्भाव और अविवेक है। इस अविवेक की निवृत्ति पुरुष का कैवल्य है। इस अविवेक और विवेक दोनों का अधिष्ठान प्रकृति ही है। साँख्य की इस व्याख्या का समाहार करते हुए भगवतीजी लिखती हैं—"यद्यपि साँख्यीय पुरुष नितांत अलिप्त और निष्क्रिय चेतना है, जो सृष्टि-क्रिया (मनुष्य के लिए संसार) में प्रकृति के साथ सम्मिलित नहीं होता किन्तु प्रकृति की पीड़ा, दुःख और मोक्षाकांक्षा उसी को लेकर है। अन्यथा भी 'आत्मोपाधि' और 'अनात्म' शब्दों का कुछ अर्थ नहीं रहता यदि मानव-संसार आत्म-सम्बद्ध नहीं होता," (पृ. 15)। उनकी यह व्याख्या **साँख्यकारिका** (का. 62) 'तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाऽश्रया प्रकृति' के साथ पूर्णतः संगत है।

के.सी. भट्टाचार्य, नारायण शास्त्री द्राविड़ तथा यशदेव शल्य की साँख्य के सत्कार्यवाद की व्याख्या साँख्यदर्शन के इतिहास में न्यायसंगत दृष्टिकोण की परिचायक है। अनात्म प्रकृति आत्मोपहित रूप में स्वयं सृष्टि का निमित्तोपादान कारण है। भगवतीजी इसी दृष्टि से साँख्य के सत्कार्यवाद की व्याख्या उपस्थित कर निमित्तोपादान विषयक भ्रम को अवकाश नहीं देतीं। इस रूप में यह उनका उपयोगी योगदान है।

अगर प्रकृति की पुरुष के भोगार्थ और मोक्षार्थ प्रवृत्ति मान लें तो साँख्य का मूल्यांकन मूल्य-मीमांसीय दर्शन के रूप में करना संगत ही नहीं अपरिहार्य भी हो जाता है। इसी उद्भावना को भगवतीजी ने इस लेख में स्थापित किया है। इतिहास-लेखकों ने साँख्य को मुख्यतः तत्त्व-मीमांसीय विधा के रूप में चित्रित किया है और तत्त्व-मीमांसा अन्ततः मूल्य में पर्यवसित होती है, यह मानकर साँख्य की व्याख्या की है। किन्तु ऐसे विवेचनों में तत्त्व-मीमांसा ही मुख्य और मूल्यपरकता गौण रूप से उभरती है। इसके विपरीत भगवतीजी के लेख में मूल्यपरकता मुख्य तथा तत्त्व-मीमांसीय तथ्यपरकता पूरक के रूप में हो जाती है। यह दृष्टि साँख्यीय अध्ययन के लिए मूलगामी है। आत्म परम मूल्य है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किन्तु साध्य न होकर सिद्ध है। साध्य केवल असत् या प्रकृति का पुरुषोपाधि-निरास है और उस उपाधि की निरर्थकता प्रकट होने पर वह निरस्त हो जाती है। इस तरह भगवतीजी के अनुसार साँख्य में पुरुष के संसारावतरण का अर्थ केवल अनात्म का परार्थ होना और अपने इस अर्थ को व्याकृत करना है।

चतुर्थ अध्याय 'शांकर वेदान्त' का आरम्भ शंकर की मूल समस्या के निर्धारण से होता है तथा मूल समस्या 'अध्यास' की विवेचना के बाद सत् की अद्वैतता, जगत् की अविद्यामूलकता तथा ईश्वर एवं जीव की मायोपहितता की चर्चा के बाद जीव एवं जगत् प्रत्ययों की डेकार्ट, काण्ट एवं साँख्य के साथ तुलनात्मक परिवेश में व्याख्या करते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि शंकर जगत् के दो अधिष्ठान मानते हैं—एक वैयक्तिक अहंकार को और दूसरा माया को। माया को भगवती जी व्यक्ति की आत्मोपाधियों का अधिष्ठान तथा जागतिक प्रतिभास को आत्मोपाधिमूलक स्वीकार करती हैं (पृ 45)।

शांकर अद्वैतवाद के कारण-प्रत्यय की पूर्ववर्ती लेखकों की व्याख्या मुख्यतः दो तरह की है—1. ब्रह्म जगत् का निमित्त और माया उपादान कारण है तथा 2. ब्रह्म ही जगत् का निमित्तोपादान कारण है। उपर्युक्त दोनों मतों सम्बन्धी युक्तियों को निरस्त कर एक तीसरी उद्भावना शल्यजी एवं भगवतीजी देते हैं जिसमें माया को ही जगत् का निमित्तोपादान, साँख्योक्त प्रकृति की निमित्तोपादानता की तरह, समझा जा सकता है। अंतर केवल यह है कि साँख्य में प्रकृति (अनात्म) निरपेक्ष सत् है जबकि माया असत् है। इसे वे ब्रह्म का स्वतंत्र आत्मसर्जन मानते हैं। इस विचार से अद्वैत की तथा जगत् की वस्तुगतता की व्याख्या हो जाती है, किन्तु यह विचार शांकर अभिमत से थोड़ा हटकर है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' दृष्टि में कार्य को उपादान कारण से सर्वथा अभिन्न एवं 'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुति से उपादान से अतिरिक्त अन्य अधिष्ठान (निमित्त) मानने का अवकाश नहीं, क्योंकि भिन्न मानने पर एक विज्ञान से सर्वविज्ञान के असंभव होने से प्रतिज्ञा और दृष्टान्त बाधित होगा। इसलिए अन्य अधिष्ठाता के न होने से आत्मा के कर्त्ता तथा अधिष्ठान से भिन्न उपादान के न होने से वही जगत्-प्रकृति भी है, ऐसा शंकर को अभिप्रेत है (देखें—ब्र.सू. शां. भा. 1/4/23 एवं 1/4/2)। ईश्वरत्व एवं जीवत्व तथा स्वयं माया भी उपहित है और वह स्वयं अपना निमित्तोपादान नहीं मानी जा सकती, क्योंकि द्वैत का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः शांकर वेदान्त ब्रह्म को ही जगत् का निमित्तोपादान मानता है। यह मत श्रुति एवं शंकर के सिद्धान्त के अनुरूप है। वस्तुतः शांकर ब्रह्म की निष्क्रियता-निस्पृहता के सम्प्रत्यय की व्याख्या हेतु भगवतीजी ईश्वरत्व, जीवत्व आदि प्रत्ययों की व्याख्या में जगत् के निमित्तोपादान के रूप में माया को देखना चाहती हैं और इस सम्बन्ध में वे शंकर के ब्रह्म-निमित्तोपादान सम्बन्धी कठिनाइयों को स्पष्ट करती हैं। उनकी यह उद्भावना व्यापक चर्चा की माँग करती है और अनात्म तथा आत्म की व्याख्या सम्बन्धी साँख्य-सिद्धान्त के अधिक नज़दीक है। युक्ति एवं विश्लेषण द्वारा भगवतीजी ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि शांकर मत में जगत् की प्रातीतिक सत्ता नहीं है। शांकर मत की आलोचना करती हुई वे लिखती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हैं "अविवेकी कल्पनाओं को यथार्थ मानकर व्यवहार करता है तथा विवेकी उन्हें कल्पना-चित्र के रूप में जानते हुए भी तात्कालिक आनन्द के लिए उसमें अपने को डाल सकता है।" (पृ. 44) भगवतीजी का यह विचार शांकर वेदान्त के अध्ययन के क्षेत्र में विचार-स्वातंत्र्य का परिचायक है तथा नया अध्याय जोड़ता है। मेरी समझ से जगत् की व्यावहारिक सत्ता को व्यवहार के स्तर पर स्वतंत्र मानने में कोई तात्त्विक अथवा तार्किक कठिनाई नहीं प्रतीत होती। स्वयं भगवतीजी भी माया को स्वतंत्र मानकर ही जगत् की वस्तुगतता का प्रतिपादन इस लेख में करती हैं और जागतिक अवस्था में इसकी व्यावहारिक सत्ता शंकर भी स्वीकार करते हैं। निष्कर्षतः यह लेख उनकी स्वतंत्र दृष्टि से शांकर वेदान्त की आलोचनात्मक समीक्षा है, अतः विचारोत्तेजक और चिंतन के लिए प्रेरक है।

पाँचवाँ अध्याय 'वसुबन्धु का विज्ञानवाद' तुलनात्मक परिवेश में एक संतुलित प्रस्तुति है। विचार के क्रम में भगवतीजी ने एक अत्यन्त मौलिक प्रतिपादन किया है कि देकार्त का भूत-द्रव्य उन भारतीय दार्शनिकों के लिए भी द्रव्य न होकर प्रतिभास है जो द्वैतवादी या बहुत्ववादी हैं। (पृ. 48) यह उद्‌भावना उनकी दृष्टि के सर्वथा अनुकूल है और यदि इस दृष्टि से भारतीय दर्शन के इतिहास को देखा जाये तो उसका आध्यात्मिक रूप ही सामने आयेगा। इस विचार-दृष्टि को लेकर चलने पर भारतीय दर्शन के इतिहास का विवेचन कुछ नए एवं मौलिक निष्कर्षों को उपस्थित कर सकता है। इस दृष्टि से यह ऐसे शोधों के लिए प्रेरक स्रोत बन सकता है। भगवतीजी की व्याख्या शांकर वेदान्त के समानान्तर है। वे यह स्पष्ट करने में सफल हैं कि शंकर व्यावहारिक स्तर पर वस्तुवादी तथा पारमार्थिक स्तर पर विज्ञानवादी हैं जबकि वसुबन्धु दोनों स्तरों पर विज्ञानवादी। तुलनात्मक दृष्टि से किया गया सर्वेक्षण होने से यह लेख अत्यन्त उपयोगी शोध-सामग्री बन गया है।

छठे अध्याय में अपोहवाद का विवेचन विद्वत्तापूर्ण है। विद्वान लेखिका ने प्रत्यक्ष और विकल्प में भेदपूर्वक भाषा को विकल्प के अंतर्गत रखते हुए साँख्य, वेदान्त तथा वैयाकरणों के मत से अपोहवाद की समानता की चर्चा की है। यहाँ पाठक समानता की अपेक्षा विषमता की अधिक अपेक्षा कर सकता है। लेखिका की यह बात वस्तुतः यथार्थ लगती है कि भाषा विकल्प के क्षेत्र तक सीमित है। किन्तु भाषीय-बोध तक दार्शनिक चिन्तन को सीमित मानने वाले वैयाकरणों की स्थिति अन्यों से भिन्न इस अर्थ में है कि वे भाषा और अर्थ दोनों को जाति मानकर भाषीय ज्ञान की स्वयं-प्रकाशता का प्रतिपादन करते हैं। इनके मत में जाति को कल्पना मात्र माननेवाले सिद्धान्तों में भी कल्पना का प्रेरक जाति ही है, जैसाकि 'कुम्भं करोति' दृष्टान्त से स्पष्ट है। यदि जाति-पूर्व कल्पना मानी जाये तो वह शब्दरहित होगी और शब्द-रहित कल्पना वदतोव्याघात है। शल्यजी स्वयं शब्दरहित अर्थ की सत्ता नहीं स्वीकार करते हैं, जैसाकि समीक्षक के एक लेख **'वाक्यपदीय में कारणता की अवधारणा'** पर शल्यजी की टिप्पणी (दिनांक 27.11.89 को लिखा गया एक पत्र) से स्पष्ट है। अपोहवादियों की इस विसंगति को कुछ विस्तार से स्पष्ट करना अपेक्षित है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सातवाँ अध्याय 'जैन दर्शन' श्री यशदेव जी शल्य द्वारा लिखित है। शल्यजी ने दो भागों में लेख में विचार किया है : प्रथम भाग में जैनियों की तत्त्व-मीमांसा की उनके 'अनन्त धर्मात्मकं वस्तु' तथा 'द्रव्य-पर्यायात्मकं सत्' कथनों के पक्ष में जैनियों द्वारा दिए गए तर्कों की आलोचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करते हुए उन तर्कों की निःसारता को प्रस्तुत किया गया है तथा दूसरे भाग में स्याद्वाद एवं सप्तभंगी नय सम्बन्धी उनके तर्कों की समीक्षा करते हुए उनकी असंगतता को प्रदर्शित किया गया है। शल्यजी एक चिंतक हैं, उनकी अपनी दृष्टि है और उस दृष्टि से जैनियों की युक्तियों की समीक्षा विद्वत्तापूर्ण है, किन्तु जैनियों के लिए अप्रिय है। वास्तव में जैनियों की दृष्टि को ध्यान में रखकर उनकी युक्तियों का मूल्यांकन उन्हें अधिक प्रिय लगेगा। जैनियों का लक्ष्य यह दिखाना है कि दृष्टि विशेष द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु के लिए एकांगी है और अस्ति, नास्ति सभी प्रकार के दृष्टिकोण की संभावना उस परिप्रेक्ष्य में बनती है। संभवतः इसके द्वारा वे यह दिखाना चाहते हैं कि आत्मा की सत्ता अस्ति, नास्ति आदि कथनों की संभावना की अनिवार्य शर्त है और उसका पूर्ण ज्ञान कथनों के द्वारा न होकर केवल-ज्ञान से ही संभव है। अर्थात्, वह भाषीय कथनों के क्षेत्र से परे साधना के द्वारा प्राप्त केवल-दृष्टि के द्वारा ही जानी जा सकती है। अतः आत्मा के कथन-अतिक्रामी रूप की यौक्तिक रक्षा का खतरा जैनी नहीं समझते और यह निष्कर्ष शल्यजी के स्वयं-प्रकाश आत्मा के विचार के साथ विषयीविषयभाव एवं अतिक्रामी आत्म-स्वरूप के सिद्धान्त के विपरीत भी नहीं है।

आठवाँ अध्याय डेकार्ट दर्शन पर एक समीक्षापरक तुलनात्मक प्रस्तुति है जो उसे नव थॉमसवादी-विज्ञानवादी रहस्यवाद की कोटि में उपस्थित करता है। डेकार्ट की संदेह-विधि, काजीटो अरगो सम, ईश्वर तथा जगत् का स्वरूप तथा उनके अस्तित्व की सिद्धि हेतु दी गई डेकार्ट की युक्तियों की मुख्य रूप से विवेचना इस लेख में की गई है। डेकार्टीय आत्म स्वयं-प्रकाश आत्म नहीं होने से इसके आधार पर निकाले गये निष्कर्ष तथा स्वयं आत्म-विचार की स्वयंसिद्धता निराधार हो जाती है तथा डेकार्टीय प्रकृति जड़भूत तत्त्व मात्र होने से सृष्टि की विषयीविषयभाव-रूपता की संगत व्याख्या उससे नहीं हो पाती। भगवतीजी के ये निष्कर्ष उनकी अत्यन्त सूक्ष्म शोध-दृष्टि के परिचायक हैं और डेकार्टीय दर्शन के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। लेख की अंतिम पंक्तियों (पृ. 101-2) में डेकार्ट का प्रत्ययवादी एवं रहस्यवादी रूप में विवेचन विस्तार एवं युक्ति की अपेक्षा करता है।

नौवें अध्याय में एम्मेनुएल काण्ट के तीनों क्रीटीकों की विषय-वस्तु को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। यह काँट-दर्शन को समग्रता में लेते हुए उसके मन्तव्य को स्पष्ट करने का एक सफल प्रयास है। इस लेख में मुख्य रूप से काण्ट की आत्मा की संकल्पात्मक प्रत्यय के रूप में अवधारणा को बहुत सूझपूर्ण रूप से प्रस्तुत किया गया है। भगवतीजी ने काण्ट में आत्मा के स्वयं-प्रकाशरूपता के संप्रत्यय को न स्वीकार करने की कठिनाइयों की ओर संकेत किया है। उनकी उद्‌भावना है कि काण्ट को आत्म को भी वस्तुतः प्रज्ञा का ही रूप मानना चाहिए या स्वयं-प्रकाश मानना चाहिए। इससे वे व्यवहार एवं परमार्थ के द्वैत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की कठिनाई से भी बच जाते और आत्मा की क्रियात्मकता के साथ उसकी स्वयं-प्रकाशता की व्याख्या भी हो जाती। इस प्रकार यह लेख हिन्दी भाषा में काण्ट पर लिखे अन्य अध्ययनों की अपेक्षा अधिक परिपक्व आलोचनात्मक दृष्टि का परिचय देता है।

शल्यजी द्वारा प्रस्तुत दसवाँ अध्याय 'समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण' उनके व्यापक अध्ययन एवं गंभीर चिंतन का द्योतक है। इस अध्याय में शल्यजी ने मुख्यतः आंग्ल यथार्थवादी-अनुभववादी मूर एवं रसल, तार्किक प्रत्यक्षवादी कार्नप, न्यूराथ तथा विश्लेषणवादी या लोकभाषा-विश्लेषणवादी विट्गिंस्टाईन एवं राईल के दार्शनिक विचारों की समीक्षा इस प्रकार की है कि अनुभववाद की दार्शनिक कठिनाइयाँ स्पष्ट रूप में चित्रित हो जाती हैं। यह अध्याय अत्यन्त ज्ञानप्रद एवं विचारोत्तेजक है और इस पुस्तक को कई दृष्टियों से पूर्णता प्रदान करता है। हिन्दी भाषा में इस विषय पर ऐसी प्रस्तुति अन्यत्र नहीं मिलती।

एक मूलगामी दृष्टि में चिंतन की गति अपने मूल या प्रारंभ की ओर अभिक्रमण करती है। शल्यीय दृष्टि में मूलतत्त्व आत्म है और यहाँ शरीराभिमान, जगदभिमान या विषयीविषयभाव में उसका अवतरण एवं पुनः उसके अतिक्रामी मूलरूप की ओर विचार की गति मानी गयी है। यह दृष्टि प्रस्तुत पुस्तक के प्रत्येक अध्याय से, खासकर दार्शनिकों के विचारों के मूल्यांकन के अवसरों पर दिखाई देती है। आत्म एवं अनात्म की व्याख्या से जुड़े तत्त्व-मीमांसीय दर्शनों के मूल्यांकन में यह दृष्टि अत्यन्त उपयोगी है और विचारों को नवीन परिवेश में देखने का अवसर प्रदान करती है। विवेचन-क्रम में प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारकों के मौलिक ग्रंथों का उपयोग किया गया है, किन्तु विश्लेषण की दृष्टि स्वतंत्र है। विश्लेषण पक्ष काफी सशक्त है और नए शब्दों एवं पदार्थों से पाठक के ज्ञानकोश की अभिवृद्धि के लिए अत्यन्त उपयोगी है। पुस्तक का मुद्रण एवं आवरण अत्यन्त आधुनिक एवं आकर्षक है। कहीं-कहीं प्रूफ शोधन सम्बन्धी त्रुटियाँ हैं। विशेषज्ञ दृष्टि से विवेचित होने के कारण यह पुस्तक दर्शनशास्त्र के छात्रों एवं अध्येताओं के लिए अत्यन्त प्रेरक एवं अनुसंधानोपयोगी सामग्री प्रस्तुत करती है, अतएव पठनीय तथा संग्रहणीय है।

देवेन्द्रनाथ तिवारी
दर्शन विभाग
ललितनारायण मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा (बिहार)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लाठ सर्वोदय ट्रस्ट ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान का तृतीय प्रकाशन

प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएं

यशदेव शल्य - भगवती

इस पुस्तक में भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिक परंपराओं के कुछ युग-प्रवर्तक विचारकों और कुछ महत्त्वपू' विचार-धाराओं का विवेचन किया गया है। ऐसे विवेचन प्रायः विवरणात्मक ही हुआ करते हैं और परिणामतः ऐसी पुस्तकें इतिहासपरक होती हैं। किन्तु इस पुस्तक के लेख इसके अपवाद हैं। ये लेख एक चिन्तक द्वारा अन्य चिन्तकों को समझने, उनकी थाह पाने के प्रयत्न के फल हैं। पुस्तक के अन्तिम लेख 'समकालीन अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण' में एक ऐसे दर्शन-सम्प्रदाय के दिग्भ्रमों का साधिकार विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिसे हमारे विश्वविद्यालयीय क्षेत्रों में आप्त वचन के समान देखा जाता है।

लेख सूची

1. ऐतरेय उपनिषद् : रूपक का दार्शनिक तात्पर्य 2. तैत्तिरीय उपनिषद् की तत्त्व-दृष्टि 3. सांख्य 4. शांकर अद्वैतवाद 5. वसुबन्धु का विज्ञानवाद 6. अपोहवाद 7. जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद 8. डेकार्ट 9. इम्मेनुएल कांट 10. समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण।

मूल्य 250.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection